ॐ तत्सत् ।

श्रीविष्णुगीता ।

भाषानुवादसहिता ।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल के शास्त्र-
प्रकाश विभाग द्वारा श्रीविश्व-
नाथअन्नपूर्णादानभण्डार
से प्रकाशित ।

काशी ।

प्रथमावृत्ति ।

बी एल्. पावगी द्वारा हितचिन्तक प्रेस,
रामघाट, बनारस सिटी में मुद्रित ।

सन् १९१९ ईस्वी

मूल्य १) एक रुपया ।

सूचना।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल से सम्बन्धयुक्त श्रीआर्य्यमहिलाहित-कारिणी महापरिषद्, आर्य्यमहिला पत्रिका, समाजहितकारी कोष, महामण्डल मैगेजीन (अङ्गरेजी), निगमागमचन्द्रिका, निगमागम बुकडिपो, एरियन बोरो, अन्नपूर्णास्त्रीशिक्षालय, श्रीविश्वनाथअन्न-पूर्णादानभण्डार, शास्त्रप्रकाश विभाग, उपदेशकमहाविद्यालय आदि विभागों से तथा श्रीभारतधर्म्म महामण्डल से पत्र-व्यवहार करने का पताः--

श्रीभारतधर्म्म महामण्डल, प्रधानकार्य्यालय,

महामण्डलभवन,

जगत्‌गंज, बनारस।

ओं तत्सत् ।

श्रीविष्णुगीता ।

विज्ञापन ।

श्रीभारतधर्ममहामण्डल प्रधान कार्य्यालय काशीधाम के शास्त्रप्रकाश विभाग द्वारा अब तक अप्रकाशित चार गीताओं का हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन होकर हिन्दीसाहित्यभण्डार और साथ ही साथ सनातनधर्म्मग्रन्थभण्डार की श्रीवृद्धि हुई है। इससे पहले श्रीगुरुगीता सब प्रकार के गुरुभक्तों के लिये, श्रीसन्न्यासगीता सब प्रकार के सन्न्यासी और साधुसम्प्रदायों के लिये सौर्य्यसम्प्रदायके लिये सूर्यगीता और शाक्तसम्प्रदायके लिये शक्तिगीता हिन्दी अनुवादसहित प्रकाशित हो चुकी है। अब यह श्रीविष्णुगीता जो अब तक अप्रकाशित थी, हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित की गई है।

सर्व्वव्यापक, सर्व्वजीवहितकारी और पृथिवी के सब धर्म्मों के पितारूप सनातनधर्म्म में निर्गुण और सगुण उपासनारूपसे प्रधान दो भेद हैं। यद्यपि लीलाविग्रह अर्थात् अवतार उपासना, ऋषिदेवतापितृउपासना और क्षुद्र तामसिक शक्तियों की उपासनारूप से सनातन धर्म्म में सब अधिकार के उपासकवृन्द के लिये और भी कई उपासनाशैलियों का विस्तारित वर्णन पाया जाता है; परन्तु लीलाविग्रह उपासना अर्थात् अवतार-उपासना तो पञ्चसगुणउपासना के अन्तर्गत ही है। श्रीविष्णुभगवान्, श्रीसूर्य्यभगवान्, श्रीभगवती देवी, श्रीगणेशभगवान् और श्रीसदाशिव भगवान् इन पंच सगुणउपास्य देवताओं में से सब के ही अवतारों का वर्णन शास्त्रों में पाया जाता है; क्योंकि सगुणउपासना की पूर्णता का लीलामय स्वरूप के बिना उपासक अनुभव नहीं कर सकता। अस्तु लीलाविग्रह की उपासना सगुण उपासना की पूर्णता के लिये ही होती है तथा ऋषिदेवपितृउपासना और अन्य क्षुद्र उपासना का अधिकार सकाम राज्य से ही सम्बन्ध रखता है।

निर्गुण उपासना में सर्व्वसाधारण का अधिकार हो ही नहीं सकता। निर्गुण उपासना अरूप, भावातीत, वाक्, मन और बुद्धि से अगोचर आत्मस्वरूप की उपासना है। निर्गुण उपासना केवल आत्मज्ञान-प्राप्त तत्त्वज्ञानी महापुरुषों तथा जीवन्मुक्त संन्यासियों के लिये ही उपयोगी समझी जा सकती है और केवल सगुण उपासना ही सब श्रेणी के उत्तम उपासकवृन्द के लिये हितकारी समझकर पूज्यपाद महर्षियों ने उसके सिद्धान्तों का अधिक प्रचार शास्त्रों में किया है। सृष्टि के स्वाभाविक पञ्चतत्त्वों के अनुसार पञ्चविभागों पर संयम करके पञ्चउपासक सम्प्रदाय के भेद कल्पना करते हुए पूर्व्वाचार्यों ने पञ्चसगुणउपासनाप्रणाली प्रचलित की है। विष्णुउपासक के लिये वैष्णवसम्प्रदायप्रणाली, सूर्य्यउपासक के लिये सौर्य्यसम्प्रदायप्रणाली, शक्तिउपासक के लिये शाक्तसम्प्रदायप्रणाली, गणपतिउपासक के लिये गाणपत्यसम्प्रदायप्रणाली और शिवउपासक के लिये शैवसम्प्रदायप्रणाली उन्होंने विस्तारित रूप से नाना शास्त्रों में वर्णन की है। प्रत्येक उपासक सम्प्रदाय के उपयोगी अनेक आर्यसंहिताएँ और

अनेक तन्त्रग्रन्थ आदि पाये जाते हैं, यहां तक कि प्रत्येक सम्प्रदाय के उपयोगी उपनिषद् भी प्राप्त होते हैं। उसी शैली के अनुसार प्रत्येक सम्प्रदाय के उपासक के लिये अपने अपने सम्प्रदाय के पंचाङ्ग ग्रन्थ हैं। अपने अपने सम्प्रदाय के पचाङ्ग ग्रन्थों में से अपने अपने सम्प्रदाय का गीताग्रन्थ सबसे प्रधान माना गया है।

विष्णुसम्प्रदाय की श्रीविष्णुगीता, सूर्य्यसम्प्रदाय की श्रीसूर्यगीता, देवीसम्प्रदाय की श्रीशक्तिगीता, गणपति-सम्प्रदाय की श्रीधीशगीता और शिवसम्प्रदाय की श्रीशम्भुगीता-ये पाचों ग्रन्थ अति अपूर्व्व उपनिषद्रूपी हैं। इन पांचों ग्रन्थरत्नों का प्रकाशन अब तक ठीक ठीक नहीं था। यदिच देवीगीता, शिवगीता और गणेशगीता नामसे कुछ ग्रन्थ प्रकाशित भी हुए है तो वे असम्पूर्ण दशा में प्रकाशित हुए हैं। श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल के शास्त्रप्रकाश विभाग तथा अनुसन्धान विभाग द्वारा ये पांचों ग्रन्थरत्न अपने सम्पूर्ण आकार में प्राप्त हुए हैं। उन्हीं पांचो में से यह तीसरी गीता अब प्रकाशित हो रही है। और गीताएँ इसी प्रकार से क्रमशःप्रकाशित होंगी। ये पाचों गीताएँ वेद-विज्ञान, सनातन धर्म्म के अपूर्व्व रहस्य, गभीर अध्यात्म-तत्त्व और पूज्यपाद महर्षियों के ज्ञानगरिमा के सिद्धान्तों से परिपूर्ण हैं, इन पांचो के पाठ करने से पाठक बहुत कुछ ज्ञान लाभ कर सकते हैं। निर्गुण ब्रह्म तथा उसकी उपासना का रहस्य, सगुण उपासना का महत्त्व और विज्ञान, वेद के कर्म-काण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड का मर्म्म, सनातनधर्म्म के सब गभीर सिद्धान्तों का निर्णय, अध्यात्मतत्त्व, अधिदैव तत्त्व, अधिभूत तत्त्व यहा तक कि वेद का सार सब कुछ इन पञ्चगीताओं में प्राप्त होता है। ज्ञानकाण्ड का विघ्न जिस प्रकार अहंकार है, उपासनाकाण्ड का विघ्न जिस प्रकार साम्प्रदायिक विरोध है, उसी प्रकार कर्म्मकाण्ड का विघ्न दम्भ है। कर्मकांडी इनको पाठ करने से अपने दम्भको भूलकर भक्त बन जाएँगे, उपासकगण अपने क्षुद्राशय और साम्प्रदायिक विरोध को भूलकर उदार और पराभक्ति के अधिकारी बन सकेंगे और तत्त्वज्ञानी के लिये तो ये पाचों ग्रन्थ उपनिषदों को साररूप हैं। गृहस्थों के लिये ये पञ्चगीताएँ परममङ्गलकर और सन्न्यासियों के लिये अध्यात्मपथप्रदर्शक हैं।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल के शास्त्र प्रकाश विभाग के अन्य ग्रन्थों के अनुसार इस ग्रन्थरत्नका स्वत्वाधिकार दीन-दरिद्रों के भरण-पोषणार्थ श्रीविश्वनाथअन्नपूर्णादानभंडार को दिया गया है। इस ग्रन्थ के इस संस्करण के छापने का व्यय खैरीगढ़राज्येश्वरी श्रीमती भारतधर्म्मलक्ष्मी महारानी सुरथकुमारी देवी के. एच. ओ. बी. ई. महोदया ने प्रदान किया है। श्रीविष्णुभगवान् उनको नीरोग और दीर्घायु करें। विज्ञापनमिति।

श्रीकाशीधाम, गुरुपूर्णिमा
सम्वत् १९७६ विक्रमीय। } **विवेकानन्द।**

श्रीविष्णवे नमः ।

श्रीविष्णुगीता
की
विषयानुक्रमणिका ।

प्रथम अध्याय ।

विषय पृष्ठाङ्क

द्वितीय अध्याय ।

देवताओंकी जिज्ञासा ।

महाविष्णुकी आज्ञा ।

देवताओंकी जिज्ञासा ।

महाविष्णुकी आज्ञा ।

तृतीय अध्याय ।

देवताओंकी जिज्ञासा ।

महाविष्णुकी आज्ञा ।

पञ्चम अध्याय ।

षष्ठ अध्याय ।

देवताओंकी जिज्ञासा ।

महाविष्णुकी आज्ञा ।

विशेष विज्ञापन ।

(१) श्रीसूर्य्यगीता ।

(२) श्रीशक्तिगीता ।

(३) श्रीविष्णुगीता ।

(४) श्रीधीशगीता ।

(५) श्रीशम्भुगीता ।

ये पांचों गीताएँ जो आजतक अप्रकाशित थीं विशुद्ध हिन्दी अनुवाद सहित प्रस्तुत हुईं हैं। इनमेंसे प्रथम तीन गीताएँ छप चुकी हैं और शेष दो छप रही हैं। यद्यपि इन पांचों गीताओंमें से प्रत्येक गीता अपने अपने उपासक सम्प्रदायों (सौर्य्य शाक्त वैष्णव गाणपत्य और शैव सम्प्रदायों) केलिये परमआवश्यकीय हैं परन्तु उपनिषदोंका सार होनेके कारण और प्रत्येक में वेदके गंभीर रहस्य अलग अलग रहने के कारण प्रत्येक सम्प्रदायके उपासकों को इन पांचों गीताओंको तथा श्रीगुरुगीताको अवश्य पढ़ना उचित है। सनातन धर्म्मके सब प्रधान रहस्य इन पांचों गीताओंमें पाये जाते हैं। धर्म्मजिज्ञासुओंको अवश्य इन गीताओंका पाठ करना उचित है। श्रीगुरुगीताभी भाषानुवाद सहित छप चुकी है। सब प्रकारके साधुसम्प्रदायोंको तो उक्त गुरुगीता और सन्न्यासगीता अवश्यही पढ़नी चाहिये। सन्न्यासगीता भी भाषानुवाद सहित छप चुकी है।

मैनेजर

निगमागम बुकडीपो

श्रीमहामण्डल भवन

जगत्‌गंज बनारस।

पञ्च उपासकसम्प्रदाय ।

वैष्णव सम्प्रदाय, सौर्य्यसम्प्रदाय, शाक्तसम्प्रदाय, गाणपत्य सम्प्रदाय और शैव सम्प्रदाय, श्री सनातन धर्म के ये प्रसिद्ध पांच उपासक सम्प्रदाय हैं। भारतवर्ष में कहीं किसी सम्प्रदाय और कहीं किसी सम्प्रदायके सिद्धान्तोंका प्रचार पाया जाता है। पांचोंही सगुण ब्रह्मोपासनामूलक सम्प्रदाय हैं। केवल साधक की प्रकृति प्रवृत्ति और अधिकारके तारतम्यके अनुसार इन पांचों उपासक सम्प्रदाय की भेदकल्पना शास्त्रोंमें की गई हैं। ये पाचो उपास्य सबही सगुण ब्रह्म है इसका विस्तारित विवरण श्री विष्णुगीता श्री सूर्य्यगीता, श्री शक्तिगीता, श्री धीशगीता और श्री शम्भुगीता के पाठ करनेसे भलीभांति प्रकट होता है। बहुत दिनों से इन पांचों सम्प्रदायो की साधनप्रणाली के ग्रन्थसमूह लुप्तप्राय हो रहे थे। यहां तक कि इनके सहस्रनामों में से सबके पूरे सहस्र नाम यथावत् नहीं पाये जाते। अब बहुत ही अनुसन्धान के साथ इन सब सम्प्रदायों के अलग अलग पञ्चाङ्गग्रन्थ और साधनसम्बधीय अन्यान्य ग्रन्थ प्राप्त किये गये है। इसके अतिरिक्त इन पांचों सम्प्रदायोंसे सम्बन्ध रखने वाले सब प्रकार के प्रसिद्ध प्रसिद्ध यज्ञ, यथा-विष्णुयाग, विश्वम्भरयाग, सूर्य्ययाग, शक्तियाग, अम्बायाग, देवीयाग, गणपतियाग, शिवयाग, रुद्रयाग और विश्वधारकयाग आदि यज्ञोंकी पद्धतियाँ ढूंढकर निकाली गयी हैं। कलियुगमें शुद्ध वैदिक यज्ञोका प्रायः लोप हो गया है, बहुत से वैदिक यज्ञोंके पद्धतिग्रन्थ कहीं कहीं मिलने पर भी उनके क्रियासिद्धांशके जाननेवाले ऋत्विक अब प्रायः नहीं मिलते अतः उनकी क्रियापद्धतिकी कठिनताके कारणसे भी वैदिक यज्ञों का प्रायः लोप होने लगा है। अतः इस समय इन वेदसम्मत स्मार्त्त यज्ञो का जितना अधिक प्रचार होगा उतनी ही दैवी जगत्‌की प्रसन्नता और जगत्‌का कल्याण होगा। ऊपर लिखित ग्रन्थसमूह के अतिरिक्त उपासक सम्प्रदायोकी गुरुदीक्षा पद्धति के अनेक रहस्य ग्रन्थ भी अनुसन्धान करके प्राप्त किये गये हैं। ये सब मूल्यवान् धर्म्मग्रन्थसमूह योग्य टिप्पणी सहित श्री भारतधर्म्म महामण्डल के शास्त्र प्रकाश विभागद्वारा क्रमशः प्रकाशित होंगे।

सेक्रेटरी
शास्त्र प्रकाशविभाग
श्री भारतधर्म्ममहामण्डल
प्रधान कार्य्यालय
जगत्‌गंज बनारस।
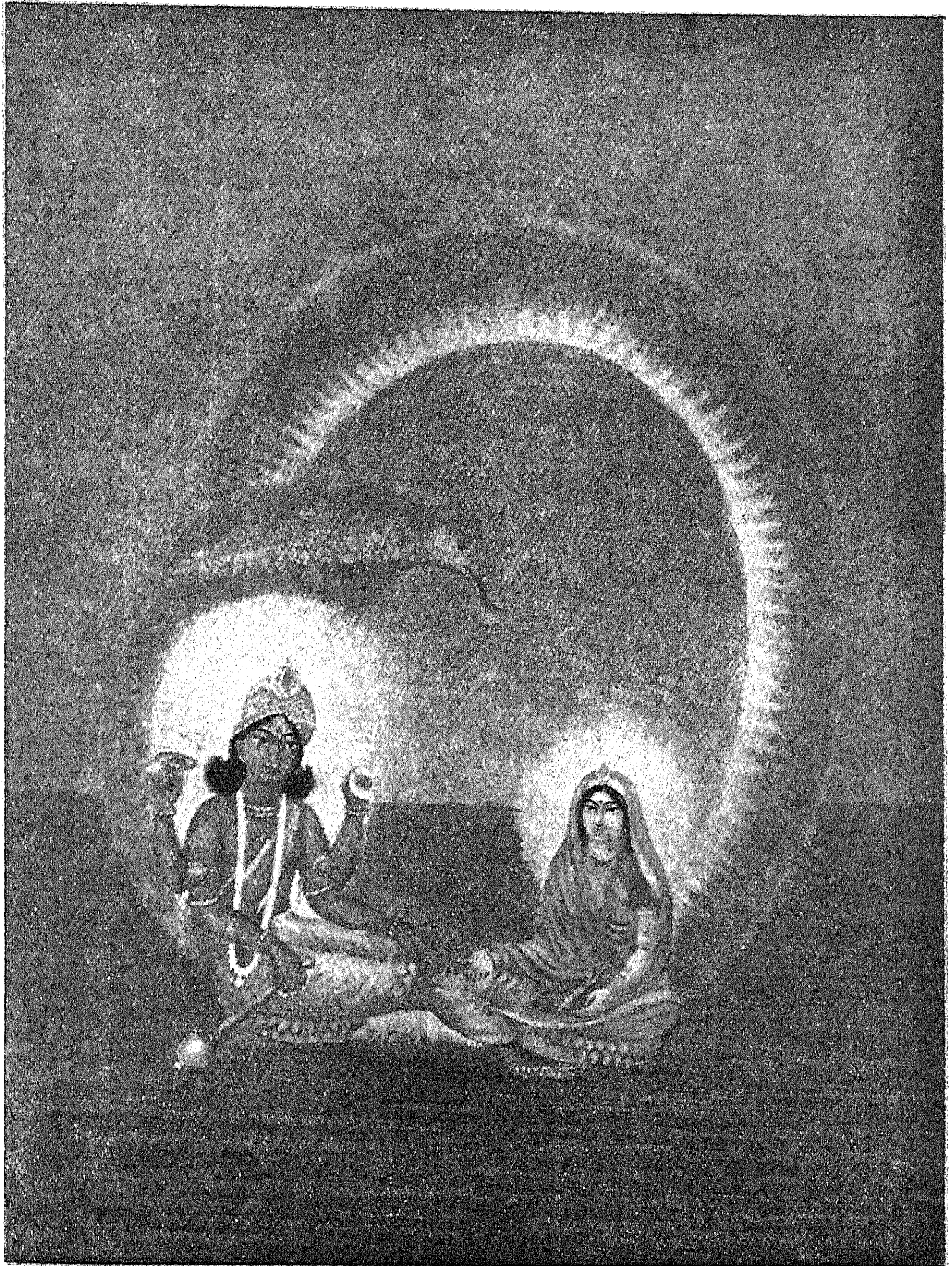
श्रीविष्णवे नमः ।

श्रीविष्णुगीता ।

भाषानुवादसहिता ।

वैराग्ययोगवर्णनम् ।

सूत उवाच ॥ १ ॥

यदुक्तं भवता देव ! भगवान् विश्वपालकः ।
अपूर्वचिन्मयज्योतीरूपः पूर्णं प्रकाशितः ॥ २ ॥
देवलोके हि देवानां भयं सत्यमनाशयत् ।
इच्छामस्तत्समाकर्ण्य वयमाप्तुं कृतार्थताम् ॥ ३ ॥

सूतजी बोले ॥ १ ॥

हे देव ! आपने जो कहा कि विश्वपालक, अपूर्व चिन्मय ज्योतिस्वरूप, पूर्ण प्रकाशमान श्रीभगवान् ने देवलोक में देवताओं को भय से मुक्त किया, यह सत्य है परन्तु हम उस वृत्तान्त को सुनकर कृतार्थता

मनोबुद्धिवचोऽतीतश्चिन्मयज्योतिरुज्ज्वलः ।
परमः पुरुषः कोऽसावाविरासीत्कृपानिधिः ॥ ४ ॥
देवानामुपदेशैः कैः स निराकृतवान्भयम् ।
कृपया श्रावयित्वा तद्धन्यानस्मान् कुरु प्रभो ! ॥ ५ ॥

व्यास उवाच ॥ ६ ॥

द्वन्द्वात्मकोऽस्ति सर्गोऽयं दिवा रात्र्या च सन्ततम् ।
प्रभया तमसा चाऽपि ज्ञानतोऽज्ञानतो यथा ॥ ७ ॥
सुखदुःखादिभिः सम्यक् स्थूलसूक्ष्मात्मकं खलु ।
ब्रह्माण्डञ्च सदा व्याप्तमनुभूतश्च भावुकैः ॥ ८ ॥
सामञ्जस्यं तथा सृष्टेर्गत्या द्वन्द्वस्वरूपया ।
समन्तात्सर्व्वथा पातुं सुरा अप्यसुरा अपि ॥ ९ ॥
दैवे जगति लिप्सन्ते प्रभुत्वमतियत्नतः ।
सुरासुरविरोधस्तत्सूक्ष्मे जगति सर्व्वदा ॥ १० ॥

को प्राप्त करना चाहते हैं ॥ २-३ ॥ मन बुद्धि और वचन से अतीत, चिन्मय ज्योति, प्रकाशमान, कृपालु, परमपुरुष जो आविर्भूत हुए थे वे कौन थे और किन उपदेशों के द्वारा उन्होंने देवताओं का भय निराकरण किया था सो कृपया सुनाकर हे प्रभो ! हमलोगों को धन्य करिये ॥ ४-५ ॥

श्री व्यासदेव बोले ॥ ६ ॥

जैसे दिन और रात, प्रकाश और अन्धकार, ज्ञान और अज्ञान-आदि से यह संसार निरन्तर द्वन्द्वात्मक है वैसेही स्थूलसूक्ष्मात्मक और अनुभव करनेवालोंके द्वारा अनुभूत यह ब्रह्माण्ड सदा सुख-दुःखादिसे सम्यक् परिव्याप्त है ॥ ७-८ ॥ इस संसारका स्वरूप द्वन्द्वमय होनेके कारण सृष्टिकी समताको सब ओर और सब तरहसे रक्षा करनेके लिये देवता और असुर अति यत्नसे दैवजगत्में अपने अपने प्रभुत्वको चाहते हैं इसी कारण सूक्ष्म जगत्में देवता

दैवराज्ये यदा देवाः प्राधान्यं यान्ति सर्व्वथा ।
धर्म्मपूर्णत्वतः सृष्टेः सामञ्जस्यं तदाऽनघं ॥ ११ ॥
कालप्रभावाज्जीवानां प्रारब्धाच्च समष्टितः ।
शैथिल्यं देवसाम्राज्यं यदा प्राप्नोति सर्व्वथा ॥ १२ ॥
प्राधान्यमसुराणान्तु वृद्धिमेति तदा ध्रुवम् ।
देवक्रियासु वैषम्यात्सृष्टौ नाना विपर्य्ययः ॥ १३ ॥
क्षीणे तपसि देवानामसुरा यान्ति मुख्यताम् ।
तेषां तपःक्षये देवा लभन्ते प्रभुतां पुनः ॥ १४ ॥
आधिदैवे सदा राज्य इत्थं यान्ति सुरासुराः ।
प्रभुत्वं नित्यसंग्रामरहस्यं हि तयोरिदम् ॥ १५ ॥
सुराणामसुराणाञ्च सर्व्वदैवेत्थमुत्कटः ।
ब्रह्माण्डेऽपि च पिण्डेऽपि संग्रामो जायते महान् ॥ १६ ॥

और असुरोंका सर्वदा विरोध रहता है ॥ ९-१० ॥ दैवराज्यमें जब देवताओंका सर्वथा प्राधान्य होजाता है तब धर्मकी पूर्णता होजानेसे सृष्टिमें निर्दोष सामञ्जस्य होता है ॥ ११ ॥ कालके प्रभावसे अथवा जीवोंके समष्टि प्रारब्धके कारण देवताओंका आधिपत्य जब पूर्णतः शिथिल होजाता है तब असुरोंका प्राधान्य बढजाता है यह निश्चित है और दैवक्रियामें वैषम्य होजानेसे सृष्टिमें नाना विपर्य्यय होते हैं ॥ १२-१३ ॥ देवताओंके तपका क्षय होजानेपर असुर मुख्यताको प्राप्त होते हैं और असुरोंके तपका क्षय होजानेपर देवता पुनः प्रभुताको प्राप्त होजाते हैं ॥ १४ ॥ सदा ही इस प्रकार अधिदैवराज्यमें देवता और असुर समय समय पर प्रभुताको प्राप्त होते रहते हैं यही देवता और असुरोंके परस्परके नित्य संग्रामका रहस्य है ॥ १५ ॥ सर्वदाही देवता और असुरोंका इस प्रकार ब्रह्माण्डमें भी और पिण्डमें भी उत्कट महान् संग्राम

बहून्येव निमित्तानि समाश्रित्य प्रवर्त्तते ।
सुरासुरेषु संग्रामो नैमित्तिक इहाऽमितः ॥ १७ ॥
पुरा यदा सुराः सर्व्वे भोगवृद्ध्या तपःक्षयम् ।
कुर्वन्तो बहुधा ह्यासन् भीतभीताः प्रमादिनः ॥ १८ ॥
प्राप्याऽवसरमुत्कृष्टमसुरा बलशालिनः ।
राज्यविस्तृतये तीव्रं यतमानाः सदाऽभवन् ॥ १९ ॥
सिद्धानां दैवराज्यानामंशास्तु बहवोऽभवन् ।
क्रमशोऽधिकृताः सम्यगसुरैर्बलशालिभिः ॥ २० ॥
नारदस्यैव देवर्षेस्तदा सदुपदेशतः ।
भयदुःखे निराकृत्य चक्रुस्तीव्रं तपः सुराः ॥ २१ ॥
प्रसन्नस्तपसा तेषां तत्त्वातीतः परात्परः ।
चिन्मयस्सन् महाविष्णुराविरासीत्पुरः स्वतः ॥ २२ ॥
चिन्मयोऽपि बभौ ज्योतिर्जितकोटिरविप्रभः ।

होता है ॥ १६ ॥ और बहुतसे निमित्त कारणों का आश्रय लेकर इस संसार में देवता और असुरोंका असाधारण नैमित्तिक संग्राम भी प्रवृत्त होता है ॥ १७ ॥ पूर्वकालमें जबही देवता भोगके द्वारा तपःक्षय करते हुए अनेक प्रकारसे अत्यन्त भयभीत और प्रमादी हो गये तब अपनेलिये इस उत्तम अवसरको प्राप्त होकर बलशाली असुर सदा राज्यविस्तारकेलिये तीव्र यत्न करने लगे ॥ १८-१६ ॥ और बलशाली असुरोंने देवताओंकी स्वाभाविक वासभूमि स्वर्गराज्यके बहुतसे अंश सम्यक् प्रकारसे क्रमशः अधिकारमें करलिये ॥ २० ॥ उस समय देवर्षि नारदके सदुपदेश देनेपर भय और दुःखका परित्याग करके देवताओंने तीव्र तपस्या की ॥ २१ ॥ उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर तत्त्वातीत परात्पर श्री महाविष्णु भगवान् स्वयं चिन्मयरूप से उनके सम्मुख आविर्भूत हुए ॥ २२ ॥ वे यद्यपि चिन्मय हैं

तेनाऽऽहतानि नेत्राणि तेषां सङ्कोचमाप्नुवन् ॥ २३ ॥
तज्ज्योतिः सूक्ष्मतां भेजे द्रुतमत्यन्तमद्भुतम् ।
चिद्व्याप्तं देवहृद्व्योम स्वत आकृष्टतां गतम् ॥ २४ ॥
बाह्यबोधैस्तदा देवाः शून्या आनन्दसागरे ।
सुखं निमज्जनं प्राप्ता मूर्च्छिता इव चाऽभवन् ॥ २५ ॥
तदा सुराणां मुग्धानां विद्यारूपा शुभप्रदा ॥
विष्णुप्रिया महामाया हृद्याविर्भावमाप ह ॥ २६ ॥
निवृत्तायामविद्यायां मूर्च्छायां तत्समागमात् ।
देवैरधिगता सर्व्वैः सम्पूर्णा प्रकृतिस्थता ॥ २७ ॥
ततः स्वच्छहृदो देवा ददृशुः सम्मुखस्थितम् ।
कमप्यदृष्टपूर्वं हि पुरुषं परमाद्भुतम् ॥ २८ ॥
सर्व्वसौन्दर्य्यशोभाढ्यं शान्तज्योतिःसमुज्ज्वलम् ।
विस्मयानन्दसन्दोहप्रदं दृष्टिमनोहरम् ॥ २९ ॥

परन्तु करोड़ों सूर्यों की प्रभाको जीतने वाली ज्योतिसे शोभायमान होनेलगे और उस ज्योतिसे देवताओंके नेत्र अभिभूत होकर सङ्कुचित होगये ॥ २३ ॥ और वह अत्यन्त अद्भुत ज्योति तत्काल सूक्ष्मत्वको प्राप्त हुई और चिन्मयत्वसे व्याप्त देवताओंके हृदयाकाशका स्वतः आकर्षण हुआ ॥ २४ ॥ उस समय देवता बहिर्ज्ञानशून्य होकर आनन्दसागरमें सुखपूर्वक डूबगये और मूर्च्छितोंके समान हो गये ॥ २५ ॥ तब मुग्ध देवताओंके हृदयोंमें विद्यारूपा शुभदायिनी विष्णुप्रिया महामाया आविर्भूत हुईं ॥ २६ ॥ बहिर्ज्ञानशून्य अवस्थामें विद्याके समागम द्वारा अविद्याके निवृत्त होने पर सब देवता पूर्ण प्रकृतिस्थ हुए ॥ २७ ॥ तदनन्तर स्वच्छहृदय देवताओंने सम्मुखस्थित अदृष्टपूर्व परम अद्भुत किसी पुरुषको देखा ॥ २८ ॥ वे पुरुष सर्वसौन्दर्य्यकी शोभासे पूर्ण हैं, शान्त ज्योतिसे प्रकाशमान हैं, अनेक विस्मय और अनेक आनन्दको देनेवाले और देखनेमें मनो-

शङ्खचक्रगदापद्मसुशोभितचतुर्भुजम् ।
भक्तेभ्यस्तु चतुर्वर्गं प्रेम्णा दातुमिवाऽऽगतम् ॥ ३० ॥

दिव्यश्यामाकृतिं कान्तं कौस्तुभेन विभूषितम् ।
अनन्तरूपेऽनन्ताख्ये पर्य्यङ्के शायिनं विभुम् ॥ ३१ ॥

कोटिसूर्य्यग्रहज्योतिःसेवितोज्ज्वलविग्रहम् ।
वनमालालसद्गात्रं विभ्रत्केयूरकुण्डलम् ॥ ३२ ॥

नखात्मकनिरङ्केन्दुकौमुदीद्योतितं श्रिया ।
सेवितं पुण्डरीकाक्षं स्मितशोभिमुखाम्बुजम् ॥ ३३ ॥

स्थानं निःशेषशोभानां सौन्दर्य्यनिकराकरम् ।
भगवन्तं रमानाथं प्रसन्नं पुण्यदर्शनम् ॥ ३४ ॥

दिव्यदृष्ट्याऽथ ते देवा दृष्ट्वा विस्मितचेतसः ।
अपूर्व्वदर्शनं देवमाविर्भूतं प्रतुष्टुवुः ॥ ३५ ॥

हर हैं ॥ २६ ॥ चारों हाथ जिनके शङ्ख चक्र गदा और पद्मसे सुशोभित हैं, मानों भक्तोंको प्रेमपूर्वक चतुर्वर्ग (धर्म्म अर्थ काम मोक्ष) देनेको आये हैं ॥ ३० ॥ दिव्य श्याम जिनका वर्ण है, अनन्त रूप धारी अनन्त जिनका पर्य्यङ्क है, कौस्तुभमणिसे विभूषित हैं ॥ ३१ ॥ कोटि सूर्य्य-ग्रहोंकी ज्योतिसे सेवित प्रकाशमान शरीरवाले हैं, केयूर और कुण्डलको धारण करनेवाले हैं, वनमालासे विभूषित हैं ॥ ३२ ॥ उनके नख मानों निष्कलङ्क चन्द्र हैं उनकी कौमुदीसे वे शोभायमान हैं, लक्ष्मीके द्वारा सुसेवित हैं, कमलनेत्र हैं, मन्दहास्यसे मुखकमल जिनका शोभायमान है ॥ ३३ ॥ अखिल शोभाके स्थान हैं, सब प्रकार के सौन्दर्य्य के आकर भगवान् रमानाथ प्रसन्न और पुण्य दर्शन हैं ॥ ३४ ॥ अनन्तर देवगण अपूर्व जिनका दर्शन है ऐसे आविर्भूत देवादिदेवके दिव्य दृष्टिके द्वारा दर्शन करके विस्मित चित्त होकर स्तुति करनेलगे ॥ ३५ ॥

देवा ऊचुः ॥ ३६ ॥

देवादिदेव ! हे नाथ ! विश्वेश्वर ! जगत्पते ! ।
सच्चिदानन्दरूपस्त्वमपरिच्छेदतो विभुः ॥ ३७ ॥
एक एवाऽद्वितीयोऽसि विश्वात्मा विश्वपालकः ।
अनादिश्चाऽप्यनन्तोऽसि विश्वसेव्य ! नमोऽस्तु ते ॥ ३८ ॥
त्वमेवासि प्रभो ! कार्य्यं त्वमेव कारणं सदा ।
कार्य्यकारणरूपस्त्वं सर्व्वात्मक ! नमोऽस्तु ते ॥ ३९ ॥
भवानेव जगन्नूनं जगदेव भवान् विभो ! ।
भवत्येव जगद् भाति जगद्रूप ! नमोऽस्तु ते ॥ ४० ॥
जगद्भूयो भवत्येव वर्त्तते किन्तु तत्त्वतः ।
न वर्त्तते भवाँस्तत्र विश्वाधार ! नमोऽस्तु ते ॥ ४१ ॥
तवैव प्रकृतिस्त्वत्तोऽव्यक्ताऽपि व्यक्तिमागता ।
बुद्ध्यहङ्कारतन्मात्राभूतेन्द्रियतया सदा ॥ ४२ ॥

देवगण बोले ॥ ३६ ॥

हे देवादिदेव ! हे नाथ ! हे विश्वेश्वर ! हे जगत्पते ! आप सच्चिदानन्दरूप, व्यवधानरहित, विभु अर्थात् व्यापक, अद्वितीय, एक, विश्वात्मा, विश्वपालक, अनादि और अनन्त हैं, हे विश्वसेव्य ! आपको प्रणाम है ॥ ३७-३८ ॥ हे प्रभो ! सदा आप ही कार्य्य और आप ही कारण हैं, आप कार्य्यकारणरूप हैं, हे सर्वात्मक ! आपको प्रणाम है ॥ ३९ ॥ हे विभो ! आप अवश्य ही जगत् हैं और जगत् ही आप हैं एवं आपमें ही जगत् भासमान होता है, हे जगद्रूप ! आपको प्रणाम है ॥ ४० ॥ पुनः आपमें ही जगत् स्थित है परन्तु तत्त्वतः आप उसमें नहीं हैं, हे विश्वाधार ! आपको प्रणाम है ॥ ४१ ॥ आपहीकी अव्यक्ता प्रकृतिभी व्यक्ता होकर बुद्धि अहङ्कार तन्मात्रा पञ्चभूत और इन्द्रियरूपसे सदा स्थूलसूक्ष्मात्मक विश्वको सर्वथा उत्पन्नकरती है, हे प्रभो ! आप जगत्-की मूल जो प्रकृति उसकेभी मूल हो और स्वयं मूलशून्यहो, आप-

स्थूलसूक्ष्मात्मकं विश्वमुत्पादयति सर्व्वथा ।
मूलशून्य ! जगन्मूलमूलभूत ! नमोऽस्तु ते ॥ ४३ ॥
कोषेणाऽन्नमयेन त्वं स्थूलविश्वमयो भवन्।
जीवान् विमोहयस्येव मोहहेतो ! नमोऽस्तु ते ॥ ४४ ॥
स्थूलो वै मृत्युलोकोऽस्ति सूक्ष्मो लोकोऽस्ति वैबुधः ।
भवान् प्राणमयः कोषो भूत्वा स्थापयति स्वतः ॥ ४५ ॥
परस्परं सुसम्बन्धमनयोर्लोकयोः सतोः ।
सम्बन्धस्थापनाकर्म्मदक्षताभाक् ! नमोऽस्तु ते ॥ ४६ ॥
मनोमयेन कोषेणाऽविद्यायाः परमाद्भुतम् ।
विज्ञानमयकोषेण विद्यायाश्च निकेतनम् ॥ ४७ ॥
सृष्ट्वाऽऽनन्दमये कोषे नित्यानन्दो विराजसे ।
सृष्टिशोभादिनैपुण्यकुलगेह ! नमोऽस्तु ते ॥ ४८ ॥
वैचित्र्यं भवतोऽपूर्व्वं भवान् सन् हि भवानसन् ।
सदसद्भ्यामतीतोऽपि भवान् भाति नमोऽस्तु ते ॥ ४९ ॥

को प्रणाम है ॥ ४२-४३ ॥ अन्नमयकोषसे आप स्थूल विश्वमय होते हुए जीवों को मोहित करते हैं, हे मोहहेतो ! आपको प्रणाम है॥४४॥ स्थूल मृत्युलोक और सूक्ष्म दैवलोक इनदोनों लोकोंका परस्पर सम्बन्ध आप प्राणमयकोष होकर स्वतः स्थापन करते हैं, हे सम्बन्ध स्थापनके कर्म्ममें परम दक्ष ! आपको प्रणाम है ॥ ४५-४६ ॥ मनो-मय कोष से परम अद्भुत अविद्याके निकेतनको बना कर और विज्ञानमय कोषसे विद्याके निकेतनको बनाकर आनन्दमयकोषमें आप नित्यानन्दरूपसे विराजमान रहते हैं, आप सृष्टिकी शोभादिके नैपुण्यमें मुख्याधिष्ठाता हैं, आपको प्रणाम है ॥ ४७-४८ ॥ आपका अपूर्व्व वैचित्र्य है, आप सत् भी हैं और असत् भी हैं एवं आप सत् असत् से अतीत भी प्रतीत होते हैं, आपको प्रणाम है ॥ ४९ ॥ आपकी ही अर्द्धाङ्गिनी

तवैवार्द्धाङ्गिनी शक्तिस्तुरीया विश्वमोहिनी।
कारणस्थूलसूक्ष्मत्वमधिगत्य निरन्तरम् ॥ ५० ॥
ब्रह्माण्डं बहुधाऽनन्तं प्रसूते पाति च स्वतः।
विचित्रशक्ते! शक्तीश! नित्यशक्त! नमोऽस्तु ते ॥ ५१ ॥
भवानेव महाविष्णुस्त्वत्तोऽसंख्या निरन्तरम्।
ब्रह्माणो विष्णवो रुद्रा आविर्भावं परं गताः ॥ ५२ ॥
स्वस्वब्रह्माण्डसङ्घानां सृष्टिस्थितिलयानलम्।
सम्पादयन्ति नियतं सर्व्वधातर्नमोऽस्तु ते ॥ ५३ ॥
जड़े सत्त्वेन चित्त्वेन चेतने तु द्वयोस्तयोः।
आनन्दत्वेन भासि त्वं सच्चिदानन्द! ते नमः ॥ ५४ ॥
विष्णोः सूर्य्यस्य शक्तेश्च गणेशस्य शिवस्य च।
रूपेण सगुणं रम्यं गृहीत्वा मूर्त्तिपञ्चकम् ॥ ५५ ॥
भवानेकोऽद्वितीयः सन्नुपास्तिपदवीं हिताम्।
करोति सुगमां देव! भक्तिहेतो! नमोऽस्तु ते ॥ ५६ ॥

विश्वमोहिनी तुरीया शक्ति कारण सूक्ष्म और स्थूलरूपको प्राप्त होकर अनेक प्रकारसे अनन्त ब्रह्माण्डोंको निरन्तर उत्पन्न करती हैं और रक्षा करती हैं, हे विचित्रशक्ति! हे शक्तीश! हे नित्यशक्त! आपको प्रणाम है ॥ ५०-५१ ॥ आप ही महाविष्णु हैं आपसे असंख्य ब्रह्मा विष्णु और रुद्र निरन्तर आविर्भावको प्राप्त होकर अपने अपने ब्रह्माण्डसंघोंके सृष्टि स्थिति और प्रलयोंको नियतरूपसे सम्पादन करते हैं, हे सर्वधातः! आपको प्रणाम है ॥ ५२-५३ ॥ जड़में सत्सत्तारूपसे और चेतनमें चित्सत्तारूपसे और सत् चित् इन दोनोंमें आनन्दसत्तारूपसे आप भासमान होते हैं, हे सच्चिदानन्द! आपको प्रणाम है ॥ ५४ ॥ हे देव! विष्णु सूर्य्य शक्ति गणेश और शिवके स्वरूपसे मङ्गलकर सगुण पञ्चमूर्त्तिको ग्रहण करके आप एक और अद्वितीय होनेपर भी हितकारक उपासनाकी शैलीको सुगम करते हैं, हे भक्तिहेतो! आपको प्रणाम है ॥ ५५-५६ ॥

सर्व्वेश्वर ! भवानेव स्वयं यज्ञेशरूपतः ।
मोक्षदां कर्म्मकाण्डीयां गतिं पासि नमोऽस्तु ते ॥ ५७ ॥
त्वं चिद्भावमयो विष्णुः सद्भावात्ममयः शिवः ।
तेजोभावमयः सूर्यो गणेशो ज्ञानितामयः ॥ ५८ ॥
शक्तिभावमयी देवी भूत्वाऽन्याऽन्याऽधिकारिणः ।
बोधयत्यात्मबोधं सगुणोपास्तौ नमोऽस्तु ते ॥ ५९ ॥
हे सर्व्वशक्तिमन् ! शक्त ! हे सर्व्वात्मन् ! कृपानिधे ! ।
तवैव शक्तितो नूनं भवामश्चालिता वयम् ॥ ६० ॥
तवैव सत्तया देव ! सत्तावन्तो वयं तव ।
आश्रिता अपि मूढास्त्वां विस्मरामो हि मायया ॥ ६१ ॥
त्वद्विस्मृतिमतां मोहमस्माकं हरसि प्रभो ! ।
विपच्छासनतो नूनमहो ते महती दया ॥ ६२ ॥
वयं शरणमापन्नाः शरणागतवत्सल ! ।
भयं नो मोहजं येन विनश्यति तथा कुरु ॥ ६३ ॥

हे सर्व्वेश्वर ! आप स्वयं ही यज्ञेश्वररूपसे मोक्षदायिनी कर्म्मकाण्डीय गतिकी रक्षा करते हैं आपको प्रणाम है ॥ ५७ ॥ आप चिद्भावमय विष्णु सद्भावमय शिव, तेजोभावमय सूर्य्य, ज्ञानभावमय गणेश और शक्तिभावमयी देवी होकर अन्यान्य अधिकारियोंको सगुणोपासनामें आत्मज्ञानका उपदेश देते हैं, आपको प्रणाम है ॥ ५८-५९ ॥ हे सर्व्वशक्तिमन् ! हे शक्त ! हे सर्व्वात्मन् ! हे कृपानिधे ! आपकी ही शक्तिसे हम सब देवतागण चालित होते हैं यह निश्चय है ॥ ६० ॥ आपको ही सत्तासे हे देव ! हम सत्तावान् हैं, आपके आश्रित होनेपर भी हम मूढ़ मायाके द्वारा आपको भूल जाते हैं ॥६१॥ हे प्रभो ! आपको भूलनेवाले हमलोगोंके मोहको आप विपत्तिरूप शासनके द्वारा अवश्य हरण करते हैं, अहो ! आपकी महती दया है ॥ ६२ ॥ हे शरणागतवत्सल ! हम आपके

तथोपदेशं याचामो ज्ञातुं स्मर्त्तुञ्च तत्त्वतः ।
त्वां शक्ताः स्मो यथा मोहे न पतामः पुनः क्वचित् ॥ ६४ ॥
विश्वासो नो ध्रुवो जातो यत्त्वां संस्मरतां सदा ।
अस्माकं निखिला भीतिस्तापोऽभावश्च नंक्ष्यति ॥ ६५ ॥
त्वां सदा स्मरतां नूनमुद्यमो नः फलिष्यति ।
सर्व्वे मनोरथाः सिद्धा भविष्यन्ति नमोऽस्तु ते ॥ ६६ ॥

महाविष्णुरुवाच ॥ ६७ ॥

युष्माकं स्तुतिभिर्देवाः ! प्रसन्नोऽस्मि ततस्त्वहम् ।
श्रेयसे वो यथायोग्यं ब्रवीमि वचनं शुभम् ॥ ६८ ॥
सदाचारच्युता यूयं भवथ स्म दिवौकसः ।
स्वकर्त्तव्यं स्वधर्म्मञ्च भवन्तो व्यस्मरञ्छुभम् ॥ ६९ ॥
अत एव समाक्रामच्चित्तं वो मोहजं भयम् ।
तापोऽयोग्यप्रवृत्त्युत्थोऽभावो मत्स्मृतिनाशतः ॥ ७० ॥

शरण आये हैं जिससे हमारा मोहजनित भय नाश हो जाय ऐसा आप करें ॥ ६३ ॥ ऐसे उपदेशकी हम आपसे याचना करते हैं जिससे हम आपको तत्त्वरूपसे जाननेको और स्मरण करनेको समर्थ होसकें और पुनः कभी मोहमें न पड़ें ॥ ६४ ॥ हम लोगोंको ठीक विश्वास होगया है कि आपको सदा स्मरण करनेसे हमारे सब भय, त्रिविध ताप और अभाव नाश होजायेंगे ॥ ६५ ॥ आपको सदा स्मरण करनेसे निश्चय ही हमारा पुरुषार्थ सफल होगा और हमारे सब मनोरथ सिद्ध होंगे, आपको प्रणाम है ॥ ६६ ॥

महाविष्णु बोले ॥ ६७ ॥

हे देवतागण ! मैं तुम्हारी स्तुतिसे प्रसन्न हुआ इस कारण तुम्हारे कल्याणके लिये मैं यथायोग्य शुभ वचन कहता हूँ ॥६८॥ तुम लोग सदाचारभ्रष्ट होगये हो इस कारण तुम मंगलमय निज कर्त्तव्य और स्वधर्म्मको भूल गये हो ॥ ६९ ॥ इसीसे तुम्हारे चित्तपर मोह-

यूयमाचारभाजश्चेत्स्वकर्त्तव्यपरायणाः ।
स्वधर्मनिरताश्चाऽपि भवितुं खलु शक्ष्यथ ॥ ७१ ॥
मच्चित्ताश्चेत्तदा यूयं भयात्तापादभावतः ।
विमुक्ताः सर्व्वकल्याणं लप्स्यध्वे मत्प्रसादतः ॥ ७२ ॥
आचारः सर्वकल्याणमूलं नूनं दिवौकसः ! ॥
शक्ष्यन्त्याचारवन्तो हि प्राप्तुं कल्याणसम्पदः ॥ ७३ ॥
आचारमूला जातिः स्यादाचारः शास्त्रमूलकः ।
वेदवाक्यं शास्त्रमूलं वेदः साधकमूलकः ॥ ७४ ॥
साधकश्च क्रियामूलः क्रियाऽपि फलमूलिका ।
फलमूलं सुखं देवाः ! सुखमानन्दमूलकम् ॥ ७५ ॥
आनन्दो ज्ञानमूलस्तु ज्ञानं वै ज्ञेयमूलकम् ।
तत्त्वमूलं ज्ञेयमात्रं तत्त्वं हि ब्रह्ममूलकम् ॥ ७६ ॥
ब्रह्मज्ञानं त्वैक्यमूलमैक्यं स्यात्सर्व्वमूलकम् ।
ऐक्यं तद्धि सुपर्वाणः ! भावातीतं सुनिश्चितम् ॥ ७७ ॥

जनित भय, अयोग्य-प्रवृत्तिजनित ताप और मेरे विस्मरणजनित अभाव, इन सबोंने अधिकार कर लिया है ॥ ७० ॥ यदि तुम आचारवान् होनेसे कर्त्तव्य परायण, स्वधर्मनिरत और मद्गतचित्त होसकोगे तब भय और तापमुक्त होकर सब प्रकारके अभावको दूर करते हुए मेरी कृपासे यावत् मङ्गल लाभ करोगे ॥ ७१-७२ ॥ हे देवगण ! आचार ही सब कल्याणोंका मूल है आचारवान् ही सब कुछ प्राप्त कर सकते हैं ॥ ७३ ॥ जाति आचारमूलक होती है, आचार शास्त्रमूलक होता है, शास्त्रका मूल वेदवाक्य है, वेदका मूल साधक है, साधककी मूल क्रिया है, क्रियाका मूल फल है, हे देवगण ! फलका मूल सुख है, सुखका मूल आनन्द है, आनन्दका मूल ज्ञान है, ज्ञानका मूल ज्ञेय है, सकल ज्ञेयोंका मूल तत्त्व है, तत्त्वका मूल ब्रह्म है, ब्रह्मज्ञानका मूल ऐक्य है

भावातीतमिदं सर्व्वं प्राकाश्ये भावमात्रकम् ।
नास्त्यत्र संशयः कोऽपि सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥ ७८ ॥

अज्ञानादेव भीतीनामुत्पत्तिर्जायते सुराः ! ।
अज्ञानमेव जन्तूनां हेतुस्तापत्रयस्य वै ॥ ७९ ॥

ज्ञानेन रहिता जीवाः साधुसौभाग्यवंचिताः ।
द्रष्टुं स्मर्त्तुञ्च मां नित्यं कदाचिदपि नेशते ॥ ८० ॥

नूनं कर्त्तव्यनिष्ठो यो निजधर्म्मपरायणः ।
ज्ञानवान्स भयान्मुक्तः सत्यमेव ब्रवीमि वः ॥ ८१ ॥

तापत्रयं न शक्नोति कदाचित् स्प्रष्टुमेव तम् ।
अचिरेणैव कालेन स मुक्तिमधिगच्छति ॥ ८२ ॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ ८३ ॥

और ऐक्य सबका मूल है, हे देवगण ! वही ऐक्य भावातीत है यह निश्चित है ॥ ७४-७७ ॥ यह सकल संसार प्रकाशरूपसे केवल भावमय है परन्तु वस्तुतः भावातीत है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है मैं सत्य २ कहता हूं ॥ ७८ ॥ हे देवगण ! अज्ञानसे ही भयकी उत्पत्ति होती है, अज्ञान ही त्रितापका कारण है ॥ ७९ ॥ ज्ञानरहित जीव सौभाग्यसे वञ्चित हैं और वे मेरे दर्शन लाभ करनेमें और यहांतक कि मेरे स्मरण करने तकमें असमर्थ होते हैं ॥ ८० ॥ परन्तु मैं तुम्हें सत्य कहता हूँ कि जो कर्त्तव्यनिष्ठ और स्वधर्म्मपरायण होते हैं वे अतिसुगमतासे ही आत्मज्ञान लाभ करके भयमुक्त हो जाते हैं ॥ ८१ ॥ पुनः त्रिताप उनको स्पर्श नहीं करसक्ता और वे शीघ्र ही मुक्तिको प्राप्त करते हैं ॥ ८२ ॥ अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे ध्यान विशेष माना गया है, ध्यानसे कर्मफलोंका त्याग श्रेष्ठ है और त्यागके अनन्तर ही शान्ति होती है ॥ ८३ ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति ।
तस्याऽहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ८४ ॥

देवा ऊचुः ॥ ८५ ॥

देवादिदेव ! सर्वज्ञ ! सृष्टिस्थितिलयप्रभो !
त्वद्विस्मरणतो नूनं दुर्गतिर्नोऽभवत्स्वयम् ॥ ८६ ॥
आज्ञाऽस्ति भवतः सत्या जीवा अभ्यासयोगतः ।
निर्भयायां पदव्यान्तु भवन्त्यग्रेसरा ध्रुवम् ॥ ८७ ॥
क्रमशो निर्भयाः सन्तस्ते जीवा भाग्यशालिनः ।
अतुलां परमां शान्तिमधिगच्छन्ति सत्वरम् ॥ ८८ ॥
तदुक्तक्रमतो देव ! दीनाश्रय ! यथा वयम् ।
प्रशान्ता निर्भयाः स्याम कृपयैव तथाऽऽदिश ॥ ८९ ॥

जो मुझको सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है उसके लिये मैं कभी अन्तर्धान नहीं होता हूँ और वह भी मुझसे अदृश्य नहीं होता है ॥ ८४ ॥

देवतागण बोले ॥ ८५ ॥

हे देवादिदेव ! हे सृष्टिस्थितिप्रलयकर्त्ता ! हे सर्व्वज्ञ ! अब हमलोगोंको यह विदित हुआ कि आपको विस्मृत होनेसे ही हमलोगोंकी यह दुर्गति हुई है ॥ ८६ ॥ आपकी आज्ञा सत्य है कि अभ्यासके द्वारा ही जीव निर्भयपदकी ओर अग्रसर होते हैं और क्रमशः भयरहित होकर परमभाग्यशाली हो परमशान्तिको शीघ्र प्राप्त करते हैं ॥ ८७-८८ ॥ अतः हे दीनजनोंके आश्रयदाता ! आपके कहे हुए क्रमके अनुसार हम शान्तिको प्राप्त करके कैसे भयरहित होसके हैं सो कृपया आज्ञा कीजिये ॥ ८९ ॥

महाविष्णुरुवाच ॥ ९० ॥

हे देवाः ! इन्द्रियैर्जीवा विषयेषु निरन्तरम् ।
सक्ताः सन्तस्तदाकारवृत्तिभिः स्युः सुदुःखिताः ॥ ९१ ॥
दशेयमेव भीहेतुः स्वर्गादिप्राप्तिकारणम् ।
एषैव विषमा नूनं आवागमनकारणम् ॥ ९२ ॥
ततो विषयवैराग्यैर्यदा शिथिलबन्धनः ।
प्रारब्धवान् साधकः स्यात्तदा सफलतालयः ॥ ९३ ॥
तदैव विमलं ज्ञानमासाद्य निर्म्मलाशयः ।
समुन्नताधिकराप्तेरधिकार भवत्सलम् ॥ ९४ ॥
नश्वरस्य शरीरस्य सम्बन्धाद्भवतां भयम् ।
भ्रान्तिमूलं यदेतत्तद्देवाः ! तत्त्वबुभुत्सवः ! ॥ ९५ ॥
इह दृश्यानि सर्वाणि नश्वराणि भवन्त्यहो ।
अविवेकमयोऽयं यत्संसारोऽतो भयाप्लुतः ॥ ९६ ॥

महाविष्णु बोले ॥ ९० ॥

हे देवगण ! जीव इन्द्रियोंकी सहायतासे विषयोंमें फँसकर विषयाकार वृत्तिको प्राप्त करता हुआ नाना दुःख प्राप्त करता है ॥ ९१ ॥ यही दशा सब भयोंकी कारण है, यही दशा स्वर्ग नरक प्रेत पितृ आदि नाना लोकप्राप्ति और आवागमनका मूलकारण है ॥ ९२ ॥ अतः विषयवैराग्य द्वारा इस बन्धनको शिथिल करता हुआ अभ्यासकी सहायतासे प्रारब्धवान् साधक जब सफलता लाभ करता है तब ही वह ज्ञानवान् होकर उन्नत अधिकार प्राप्त करनेका अधिकारी बनता है ॥ ९३-९४ ॥ हे तत्त्वजिज्ञासु देवतागण ! नश्वर शरीरके सम्बन्धसे आपलोगोंका जो भय है सो भ्रममूलक है ॥ ९५ ॥ इस संसारकी सब वस्तु नश्वर है विशेषतः यह संसार अज्ञानमय होनेके कारण भयसे पूर्ण है ॥ ९६ ॥

अविवेकसमुद्भूतविषयासक्तितः क्वचित् ।
लब्धुं न कोऽपि शक्नोति निर्भयत्वमिह स्वतः ॥ ९७ ॥
पुत्रमित्रकलत्रादिस्वजनाः स्वस्वकर्म्मणा ।
भोगार्थं युगपन्नूनमेकत्रोत्पत्तिमाश्रिताः ॥ ९८ ॥
आत्मीयत्वेन राजन्ते ध्रुवं स्वस्वार्थसिद्धये ।
संस्थाप्यानृतसम्बन्धमेषु यान्ति महद्भयम् ॥ ९९ ॥
एतदात्मीयजं दुःखं भयं चाऽज्ञानमूलकम् ।
न जायते सुखं सत्यं नश्वरात्काञ्चनादितः ॥ १०० ॥
ईदृशे नश्वरेऽर्थे हि सक्तो देही निरन्तरम् ।
विविधं दुःखमाप्नोति भयञ्चैवाऽधिगच्छति ॥ १०१ ॥
जरामृत्युभयं देहे पुत्रादौ कालजादिकम् ।
राजतस्करजं द्रव्ये जराजं यौवने भयम् ॥ १०२ ॥
जरारोगभयं रूपे बले शत्रुभवं भयम् ।
भोगे रोगभयं नूनं कुले पतनजं भयम् ॥ १०३ ॥

अज्ञानसम्भूत विषयमें आसक्त रहनेसे कोई भी भयरहित नहीं हो सक्ता ॥ ९७ ॥ पुत्र मित्र कलत्रादि स्वजन केवल अपने अपने कर्म्म भोगनेके लिये एक देशकालमें उत्पन्न होकर अपने अपने स्वार्थ-सिद्धिके लिये आत्मीयरूपसे प्रतीत होते हैं उनमें मिथ्या सम्बन्ध स्थापन करके देही अनेक भयको प्राप्त होता है ॥ ९८-९९ ॥ यह सब आत्मीयजनित भय और दुःख अज्ञानमूलक है। नश्वर कामिनी काञ्चन आदि भोगपदार्थ अपनी नश्वरताके कारण कदापि सत्य सुखको उत्पन्न नहीं करसक्ते ॥ १०० ॥ इस प्रकारके नश्वर विषयोंमें फंसकर देही निरन्तर अनेक प्रकारके दुःख और भय प्राप्त करता है ॥ १०१ ॥ शरीरमें जरा और मृत्युका:भय है, पुत्रकलत्रादिमें काल और वियोगका भय है, धनमें राजा और चोरका भय है, यौवनमें वार्द्धक्यका भय है ॥ १०२ ॥ रूपमें जरा और रोगका भय है, बलमें शत्रुका भय है, भोगमें रोगका भय है, कुलमें पतित होनेका भय है ॥१०३॥

दीनताजं भयं माने गुणे खलभयं खलु ।
भयं निन्दकजं शक्तौ विद्यायां वादिजं भयम् ॥ १०४ ॥
स्वर्गेऽपि प्रार्थ्यमानेऽस्मिन्नीर्ष्यापतनजं भयम् ।
वैराग्यपदमेवाऽत्र तिष्ठत्यभयमुत्तमम् ॥ १०५ ॥
येनैव हि विचारेण तत्तु लभ्येत निर्जराः ! ।
जगतां श्रेयसे नूनं तं ब्रवीमि निबोधत ॥ १०६ ॥
देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १०७ ॥
मात्रास्पर्शास्तु गीर्वाणाः ! शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्ताँस्तितिक्षध्वमुत्तमाः ! ॥ १०८ ॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं विबुधर्षभाः ! ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १०९ ॥
नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः ।

मानमें दीनताका भय है, गुणमें खलोंका ही भय है, शक्तिमें निन्दकका भय है, विद्यामें वादीका भय है ॥ १०४ ॥ सब लोगोंके अभीप्सित स्वर्गमें भी ईर्ष्या और पतनका भय है, केवल उत्तम वैराग्यपद ही भयरहित है ॥ १०५ ॥ हे देवतागण ! जिस विचारके द्वारा इसकी प्राप्ति निश्चय ही होती है उसको जगत्कल्याणके लिये ही कहता हूँ सो जानो ॥ १०६ ॥ देहाभिमानी जीवका जिस प्रकार इस देहमें कौमार यौवन और वार्द्धक्य है देहान्तरप्राप्ति अर्थात् मृत्यु भी उसी प्रकार है (अवस्थाभेदमात्र है) अतएव ज्ञानी उसमें मोहित नहीं होते हैं ॥ १०७ ॥ हे श्रेष्ठ देवगण ! इन्द्रियोंकी वृत्ति और उनके साथ इन्द्रियोंके विषयोंका संयोग ये ही शीतोष्णादि सुख दुःखको देनेवाले हैं। ये सब आगमापायी (उत्पत्तिनाशविशिष्ट) हैं अतएव अनित्य हैं उनको सहन करो अर्थात् हर्षविषाद आदिके वशीभूत मत हो ॥ १०८ ॥ हे देवश्रेष्ठो ! ये सब (मात्रास्पर्श) सुख दुःखमें समभावयुक्त जिस धीर व्यक्तिको व्यथा नहीं देते हैं वह अमरत्व प्राप्त करता है ॥ १०९ ॥ अनित्य वस्तु स्थायी नहीं है और नित्य

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ ११० ॥
अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्व्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्याऽस्य न कश्चित् कर्त्तुमर्हति ॥ १११ ॥
यदा वो मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तास्थ निर्व्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ११२ ॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना वो यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यथ ॥ ११३ ॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ ११४ ॥
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तो विबुधाः ! न तेषु रमते बुधः ॥ ११५ ॥

वस्तुका विनाश नहीं होता, अर्थात् अनित्य शरीर और जगत्का अवश्य नाश होगा और नित्य वस्तु आत्माका त्रिकालमें विनाश नहीं है। तत्त्वदर्शी लोगोंने इन दोनोंका ही तत्त्व देखा है ॥ ११० ॥ जो (उत्पत्तिनाशशील) इन सब (देहादि) में व्याप्त है उस (आत्मस्वरूप) को अविनाशी जानो । कोई भी उस अव्यय (उत्पत्तिनाशशून्य आत्मा) का विनाश नहीं कर सका ॥ १११ ॥ जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूप गहन दुर्ग (देहादिमें आत्मबुद्धि) को परित्याग करेगी तब तुम श्रोतव्य और श्रुत अर्थोंसे वैराग्य-प्राप्त होगे ॥ ११२ ॥ जब तत्त्वज्ञानसम्बन्धी उपदेशोंके सुननेसे और उनके मनन द्वारा तुम्हारी बुद्धि अविचलित होकर समाधिमें उत्तमरूपसे स्थिर रहेगी तब तुम योग प्राप्त होगे ॥ ११३ ॥ बाह्येन्द्रियोंके सब विषयोंमें अनासक्तचित्त व्यक्ति, आत्मामें जो शान्ति सुख है उसकी प्राप्ति करता है, वह ब्रह्ममें योगके द्वारा युक्तात्मा होकर अक्षय सुख प्राप्त करता है ॥ ११४ ॥ विषयजनित जो सब सुख हैं वे निश्चय ही दुःखके हेतु हैं एवं आदि और अन्त विशिष्ट अर्थात् अनित्य हैं इसी कारण हे देवगण ! विवेकी

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ ११६ ॥
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि निर्ज्जराः ! ।
अव्यक्तनिधनान्येव ह्येतदेवावधार्य्यताम् ॥ ११७ ॥
आश्चर्य्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्य्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्य्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ ११८ ॥

इति श्रीविष्णुगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
देवमहाविष्णुसम्वादे वैराग्ययोगवर्णनं नाम
प्रथमोऽध्यायः ।

पुरुष इन सबमें रत नहीं होते हैं ॥ ११५ ॥ जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्र परित्याग करके दूसरे नवीन वस्त्र धारण करता है उसी प्रकार आत्मा जीर्ण शरीर परित्याग करके अन्य नूतन देह धारण करता है ॥ ११६ ॥ हे देवगण ! सकल भूत प्रारम्भमें अव्यक्त (चक्षु आदिके अगोचर) हैं, (केवल) बीचमें व्यक्त (प्रकाशित) हैं एवं मरणकालमें भी अव्यक्त हैं, ये सब ही आप विचार करें ॥ ११७ ॥ कोई इस (आत्मा) को आश्चर्यवत् देखता है, इसी प्रकार कोई इसको आश्चर्य्यवत् कहता है और कोई इस को आश्चर्य्यवत् सुनता है और कोई सुनकर भी इसको नहीं जानता है ॥ ११८ ॥

इस प्रकार श्रीविष्णुगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी देवमहाविष्णुसम्वादात्मक योगशास्त्रका वैराग्ययोगवर्णन नामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ।

सृष्टिसृष्टिधारकयोगवर्णनम् ।

देवा ऊचुः ॥ १ ॥

देवाधिदेव ! हे नाथ ! भवतः कृपयाऽधुना ।
ज्ञात्वा वैराग्यमाहात्म्यं तत्स्वरूपञ्च सुस्फुटम् ॥ २ ॥
निर्भयाः स्मो वयं जाता देवास्त्वत्पदसेविनः ।
इदानीं वर्णयन्सम्यक् सृष्टिप्रकरणं तथा ॥ ३ ॥
तद्रहस्यं महाविष्णो ! ज्ञापयन्यच्छ नोऽधुना ।
विवेकं तादृशं येन जानीमो विस्तराद्वयम् ॥ ४ ॥
का सृष्टिः कश्च सम्बन्धस्तया नस्सह सम्मतः ॥ ५ ॥

महाविष्णुरुवाच ॥ ६ ॥

निर्गुणावस्थितावस्मि खल्वव्यक्तोऽद्वितीयकः ।
आविर्भवति मे शक्तिर्मत्त एव यदा सुराः ! ॥ ७ ॥

देवतागण बोले ॥ १ ॥

हे देवादिदेव ! हे नाथ ! इस समय वैराग्यकी महिमा और उसका स्वरूप आपकी कृपासे भलीभांति जानकर हम सब आपके चरणसेवक देवगण भयसे रहित हुए हैं । अब हे महाविष्णो ! सृष्टिप्रकरण और उसका रहस्य अच्छीतरह वर्णन करके हमको ऐसा विवेक इस समय प्रदान कीजिये जिससे हम अच्छीतरह समझसकें कि सृष्टि क्या है और सृष्टिके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है ॥२-५॥

महाविष्णु बोले ॥ ६ ॥

मैं निर्गुण अवस्थामें अव्यक्त और अद्वितीय ही रहता हूँ । हे देवतागण ! जब मेरी शक्ति मुझसे ही उत्पन्न होती है तब मैं महाविष्णु होकर सगुणरूपको धारण करता हूँ । मेरी शक्ति महामाया अपने-

महाविष्णुस्तदा भूत्वा सगुणं धारये वपुः।
शक्तिर्मम महामाया द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो वपुः॥ ८॥
विद्यारूपेण सततं सेवायां रमते मम।
करोति ज्ञानिनो जीवान्मां प्रत्यग्रेसराँश्च सा॥ ९॥
तथाऽविद्यास्वरूपेण सैव जीवानहर्निशम्।
अज्ञानबन्धने बद्ध्वा तेषां बन्धनकारणम्॥ १०॥
सृष्टिस्थित्योश्च जगतः कारणं भवति ध्रुवम्।
वस्तुतोऽहं निजानन्दप्रकाशाय हि केवलम्॥ ११॥
धरामि द्वैतरूपं तज्जानीत विबुधर्षभाः!।
ममानन्दस्य तस्याऽस्ति महामायैव कारणम॥ १२॥
मच्छक्तिरूपां यां प्राहुर्मूलप्रकृतिरित्यपि।
विदन्ति प्रकृतिं तां मे त्रिगुणां तत्त्वदर्शिनः॥ १३॥
नाना तत्त्वविभक्तां तां केचन ज्ञानिनो विदुः।
तामेव प्रकृतिं केचिच्चतुर्विंशतिधा जगुः॥ १४॥

मेंसे दो रूप प्रकट करके वे विद्यारूपसे सदा मेरी सेवामें रत रहती हैं और वे ज्ञानी जीवोंको मेरी ओर अग्रसर करती रहती हैं॥ ७-९॥ वे ही पुनः अविद्यारूपसे जीवोंको अज्ञानबन्धनमें अहर्निश फंसाकर उनके बन्धन तथा जगत्की सृष्टि स्थितिका निश्चित कारण बनती हैं। हे श्रेष्ठ देवगण! वास्तवमें केवल अपने आनन्दके प्रकाशके लिये ही मैं द्वैतरूपको धारण करता हूँ, इस बातको जानो। मेरे उस आनन्दका कारण महामाया ही है॥ १०-१२॥ जिसको मेरी शक्तिरूपिणी और मूलप्रकृति भी कहते हैं। उस मेरी प्रकृतिको त्रिगुणमय करके तत्त्वदर्शिगण जानते हैं॥ १३॥ कोई तत्त्वज्ञानी उसको नानातत्त्वोंमें विभक्त जानते हैं। कोई तत्त्वज्ञानी उसी प्रकृतिको चतुर्विंशतिभागमें

वस्तुतो मेऽष्टधा भिन्ना प्राधान्यात्प्रकृतिर्मता ।
जगत्प्रसविनी शक्तिर्युष्माभिरवधार्य्यताम् ॥ १५ ॥
अन्या चेतनमय्यस्ति प्रकृतिर्जीवमुक्तिदा ।
उक्ताष्टप्रकृतेर्भिन्ना यां हि पश्यन्ति योगिनः ॥ १६ ॥
मम प्रकृतिसम्भूतसंसारस्य सुरर्षभाः ! ।
सृष्टिः प्रवाहरूपेण ह्यनाद्यन्ता प्रकीर्तिता ॥ १७ ॥
अपि ब्रह्माण्डसङ्घस्यानन्तत्वे प्रकृतिर्मम ।
प्रतिब्रह्माण्डमेवासौ सृष्टिस्थितिलयान्खलु ॥ १८ ॥
स्वयं करोति दुर्ज्ञेया जीवैर्मद्वशवर्त्तिनी ।
ब्रह्मविष्णुमहेशानां रूपेणाऽहं सहायवान् ॥ १९ ॥
सृष्टिस्थितिलये वर्त्ते प्रतिब्रह्माण्डमेव हि ।
स्वस्वशक्त्याश्रयान्नूनं त्रय एते हि हेतवः ॥ २० ॥
सृष्टिस्थितिलयानां वै भवन्ति सुरसत्तमाः ! ।
ब्रह्मा मच्छक्तिमाश्रित्य जीवकर्म्मानुसारतः ॥ २१ ॥

विभक्त कहते हैं ॥ १४ ॥ वास्तवमें प्रधानतः मेरी शक्तिरूपिणी जगत्प्रसविनी प्रकृति अष्टधा विभक्त है, सो आप जानें ॥ १५ ॥ और चेतनमयी प्रकृति जो जीवको मुक्त करती है, वह इससे अलग है जिसको योगी लोग उक्त आठ प्रकारकी प्रकृतिसे भिन्न देखते हैं ॥ १६ ॥ हे देवगण ! मेरी प्रकृतिसे उत्पन्न इस संसारकी सृष्टि प्रवाहरूपसे ही अनादि अनन्त कही गई है ॥ १७ ॥ ब्रह्माण्डसमूहके अनन्त होने पर भी प्रत्येक ब्रह्माण्डकी ही उत्पत्ति स्थिति और लय, जीवों के द्वारा दुर्ज्ञेया यह मेरी प्रकृति मेरे वशमें रहकर स्वयं ही करती है। प्रत्येक ब्रह्माण्डमें मैं ही ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूपसे सृष्टि स्थिति और लयमें सहायक रहता हूँ । हे श्रेष्ठ देवगण ! ये ही तीनों अपनी अपनी शक्तिको आश्रय करके ही उत्पत्ति स्थिति और लयके कारण होते हैं । हे देवगण ! ब्रह्मा मेरी शक्तिका आश्रय लेकर जीवोंके पूर्वकर्मोंके अनुसार तथा

तथा स्वाभाविकं कर्म्मप्रवाहं प्रकृतेः सुराः ! ।
आश्रित्य तनुते नित्यं स्थावरं जङ्गमं जगत् ॥ २२ ॥
उद्भिदः स्वेदजस्याथ ह्यण्डजस्य तथा सुराः ! ।
जरायुजस्य मर्त्यानां पितॄणां भवतां तथा ॥ २३ ॥
तत्त्वज्ञानोपदेष्टॄणामृषीणां चैव सर्व्वशः ।
ब्रह्मैव कुरुते सृष्टिं महामायाप्रभावतः ॥ २४ ॥
इमे मन्मायया भ्रान्ताः सृष्टिचक्रे भ्रमन्त्यहो ।
यूयं सर्व्वेऽपि मन्मायामोहिताः स्थ विशेषतः ॥ २५ ॥
सृष्टिचक्रविवेकन्तु निबोधत समाहिताः ।
यमत्र सन्निधौ देवाः ! भवतां प्रब्रवीम्यहम् ॥ २६ ॥
सहस्रयुगपर्य्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ २७ ॥
अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्व्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ २८ ॥

प्रकृतिके स्वाभाविक कर्म्म–प्रवाहका अवलम्बन करके स्थावर-जङ्गमात्मक संसारको सदा विस्तार करते हैं ॥ १८-२२ ॥ हे देवगण ! उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज, मनुष्य, पितृ, देवता और तत्त्वज्ञानोपदेशक ऋषियोंकी, इन सब प्रकारकी सृष्टिको ब्रह्माजी ही महामायाके प्रभावसे करते हैं ॥ २३–२४ ॥ अहो ! मेरी मायासे भूले हुए ये सब सृष्टिचक्रमें घूमते रहते हैं। आप सब भी मेरी मायासे विशेष विमोहित हैं ॥ २५ ॥ हे देवतागण ! आपलोगोंके समीप जिस सृष्टिचक्रके विवेकको मैं यहाँ कहता हूँ उसको सावधान होकर समझो ॥ २६ ॥ सहस्रयुग पर्य्यन्त ब्रह्माका जो एक दिन उसको जो जानते हैं एवं सहस्रयुगान्ता जो रात्रि उसको जो जानते हैं वे लोग अहोरात्रवेत्ता हैं ॥ २७ ॥ ब्रह्माके दिनारम्भमें अव्यक्तसे सब व्यक्त (चराचर प्राणिमात्र) प्रादुर्भूत होते हैं एवं ब्रह्माकी रात्रिके

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशो देवाः ! प्रभवत्यहरागमे ॥ २९ ॥
परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तो व्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्व्वेषु भूतेषु नश्यत्स्वपि न नश्यति ॥ ३० ॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ३१ ॥
पुरुषः स परो देवो भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्व्वमिदं ततम् ॥ ३२ ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्यतां योग ऐश्वरः ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ३३ ॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्व्वत्रगो महान् ।

प्रारम्भमें उसी अव्यक्तस्वरूपमें ही लीन होजाते हैं ॥ २८ ॥ हे देवगण ! वेही व्यक्त सचराचर सब प्राणिवर्ग वारंवार जन्म ग्रहण करके रात्रिके समागम होने पर लीन होते हैं एवं दिनके प्रारम्भमें (अपने अपने कर्म्मादिके) वश होकर उत्पन्न होते हैं ॥ २९ ॥ किन्तु उस व्यक्तभावसे भी श्रेष्ठ (उसका भी कारण) अतीन्द्रिय अनादि जो एक भाव है वह सकल प्राणियोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता है ॥ ३० ॥ जो अव्यक्त अर्थात् अतीन्द्रियभाव अक्षर कहा गया है उसको परम गति अर्थात् परमपुरुषार्थ कहते हैं, जिसको प्राप्त होकर पुनः प्रत्यावर्त्तित होना नहीं होता है वह मेराही परमधाम है ॥ ३१ ॥ हे देवगण ! जिसमें भूतगण (प्राणिमात्र) स्थित हैं एवं जो इस सकल जगत्में व्याप्त है वह परमपुरुष एकान्तभक्ति द्वारा ही प्राप्य है॥३२॥ मेरे ऐश्वरीय योगको देखो, सकलप्राणी मुझ में अवस्थित होकर भी अवस्थित नहीं हैं अर्थात् मैं उनसे निर्लिप्त हूँ, मैं भूतधारक और भूतपालक हूँ तथापि भूतगणमें मैं अवस्थित नहीं हूँ ॥ ३३ ॥ सर्व्वव्यापी और महान् वायु जिस प्रकार आकाशमें नित्य स्थित है सकल

तथा सर्व्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधार्य्यताम् ॥ ३४ ॥
सर्वभूतानि गीर्व्वाणाः ! प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ३५ ॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ३६ ॥
न च मां तानि कर्म्माणि निबध्नन्ति दिवौकसः ! ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्म्मसु ॥ ३७ ॥
मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनाऽनेन वै देवाः ! जगद्विपरिवर्त्तते ॥ ३८ ॥
न मे विदुर्भवन्तो हि प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि वो देवाः ! महर्षीणाञ्च सर्वशः ॥ ३९ ॥
यो मामजमनादिञ्च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स सर्व्वत्र सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४० ॥

भूत भी वैसेही मुझमें अवस्थित हैं ऐसा समझो ॥ ३४ ॥ हे देवगण ! प्रलयकालमें सब भूतगण मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं एवं पुनः सृष्टिके प्रारम्भमें मैं उनको उत्पन्न करता हूँ ॥ ३५ ॥ मैं अपनी प्रकृतिमें अधिष्ठान करके स्वभाववश होकर कर्म्मादि परवश इन समस्त भूतगणकी पुनः पुनः सृष्टि करता रहता हूँ ॥ ३६ ॥ हे देवगण ! उन सब कर्म्मोंमें अनासक्त और उदासीनवत् अवस्थित मुझको वे सब कर्म्म बन्धन नहीं करसक्ते हैं ॥ ३७ ॥ मेरे अधिष्ठानसे प्रकृति चराचर सहित विश्वको उत्पन्न करती है हे देवगण ! इस कारण जगत् बारंबार उत्पन्न होता है ॥ ३८ ॥ मेरा प्रभव (आविर्भाव) तुमको अवगत नहीं है महर्षिगणको भी अवगत नहीं है क्योंकि मैं हे देवगण ! तुमलोगोंका और महर्षिगणका सर्व्व प्रकारसे आदि हूँ ॥ ३९ ॥ जो मुझको अनादि, जन्मरहित, और सकल लोकोंका महान् ईश्वर जानता है वह सब जगह मोहरहित होकर सकल

महर्षयः सप्त पूर्व्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ४१ ॥
एतां विभूतिं योगञ्च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ४२ ॥
बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयञ्चाभयमेव च ॥ ४३ ॥
अहिंसा समता तुष्टिः स्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ४४ ॥
अहं सर्व्वस्य प्रभवो मत्तः सर्व्वं प्रवर्त्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ४५ ॥

देवा ऊचुः ॥ ४६ ॥

अनादिदेव ! सृष्टीनां कर्त्तः ! पालक ! हारक ! ।
प्रभो ! विश्वनियन्तर्नः कृपया कथयाऽधुना ॥ ४७ ॥

पापोंसे मुक्त होजाता है ॥ ४० ॥ भृगु आदि सात महर्षि और उनके पूर्व्ववर्त्ती सनकादि चार महर्षि तथा स्वायंभुवादि चौदह मनु ये सभी मेरे प्रभावसे युक्त हैं एवं मेरे हिरण्यगर्भरूपके सङ्कल्पमात्रसे ही उत्पन्न हैं, सब संसारके सब जीव उन्हींकी सृष्टि की हुई प्रजा है ॥ ४१ ॥ जो तत्त्वज्ञानके द्वारा मेरी उक्त विभूति एवं योगको जानता है वह अचल समाधिमें युक्त होता है इसमें सन्देह नहीं ॥४२॥ बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, भव (उद्भव), अभव (नाश) भय, अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश, अयश, प्राणियोंके ये सब नाना प्रकारके भाव मुझसे ही उत्पन्न होते हैं ॥ ४३-४४ ॥ मैं सकल जगत्की उत्पत्तिका हेतु हूँ और मुझसे ही सब जगत् प्रवृत्तिको प्राप्त करता है यह जानकर विवेकिगण मेरे भावको प्राप्त होकर मेरा भजन करते हैं ॥ ४५ ॥

देवतागण बोले ॥ ४६ ॥

हे विश्वनियन्ता ! हे सृष्टिके कर्त्ता पालक और संहारक प्रभो !

इयं सृष्टिः किमाधारा तथाऽस्याः को नियामकः ।
आलम्ब्य कमिमे जीवाः परिणाममयीमिमाम् ॥ ४८ ॥
सृष्टिं जयन्तो ह्यर्हन्ति प्राप्तुं त्वां मोक्षदायिनं ।
ज्ञानानन्दप्रदं नित्यं भक्ताभीष्टफलप्रदम् ॥ ४९ ॥

महाविष्णुरुवाच ॥ ५० ॥

धर्म्माधारा स्थिता सृष्टिः स एवास्या नियामकः ।
केवलं धर्म्ममेवैकमाश्रित्य जीवजातयः ॥ ५१ ॥
अग्रेसरा भवन्तीमा मां प्रत्येव न संशयः ।
ममानुशासनं धर्म्म इति तत्त्वविदो विदुः ॥ ५२ ॥
जगन्नियामिका शक्तिर्धर्म्मरूपाऽस्ति या मम ।
तया ह्यनन्तब्रह्माण्डान्यनन्ता लोकराशयः ॥ ५३ ॥
ऋषयः पितरो यूयं स्वस्वस्थाने स्थिताः सदा ।
रक्षन्ति सृष्टिमखिलामिति जानीत सत्तमाः ! ॥ ५४ ॥

अब कृपा करके यह बताइये कि यह सृष्टि किस आधारपर स्थित है और सृष्टिका नियामक कौन है और किसको अवलम्बन करके इस परिणाममय सृष्टिको जय करते हुए जीव, ज्ञानानन्दप्रद नित्य भक्ताभीष्टफलप्रद और मोक्षदायी आपको प्राप्त कर सकते हैं ॥ ४७–४९ ॥

महाविष्णु बोले ॥ ५० ॥

सृष्टि धर्म्मके आधारपर स्थित है, सृष्टिका नियामक धर्म्म ही है और एकमात्र धर्म्मको ही अवलम्बन करके ये जीवगण मेरी ओर ही अग्रसर होते हैं इसमें सन्देह नहीं । मेरा अनुशासन धर्म्म है ऐसा तत्त्वज्ञ समझते हैं ॥ ५१–५२ ॥ मेरी जगन्नियामिका शक्तिरूप धर्म्मसे अनन्त ब्रह्माण्डसमूह, अनन्त लोकसमूह और ऋषि देवता पितृगण अपने २ स्थान पर सदा स्थित रहकर सम्पूर्ण सृष्टिकी रक्षा करते हैं, हे श्रेष्ठ देवगण ! इसको जानो ॥ ५३–५४ ॥ हे देवगण !

धर्म्मे धारणरूपा या शक्तिरस्ति दिवौकसः ! ।
तयैव स्वस्वकक्षायामिमे सर्व्वे स्थिताः सदा ॥ ५५ ॥
ग्रहनक्षत्रप्रमुखा लोका ब्रह्माण्डकानि च ।
तयैव पितरो यूयमृषयश्च तथाऽसुराः ॥ ५६ ॥
रक्षन्तः पदमर्य्यादां स्वीयां लोकानवन्त्यलम् ।
यदा स्वधर्म्माच्च्यवथ विप्लवो जायते तदा ॥ ५७ ॥
अत्यन्तं येन लोकेषु नित्यं सीदन्ति प्राणिनः ।
अनन्तकोटिब्रह्माण्डयुक्तसृष्टिप्रवाहकः ॥ ५८ ॥
मत्स्थितः केवलं धर्म्ममेवैकमवलम्ब्य हि ।
वर्त्तते धर्म्म एवातो विश्वधारक ईरितः ॥ ५९ ॥
अनन्ता ये ग्रहाः सर्व्वे तथोपग्रहराशयः ।
ब्रह्माण्डशब्दनिर्व्वाच्यास्तथैवामरपुङ्गवाः ! ॥ ६० ॥
नानावैचित्र्यसंयुक्ता उद्भिज्जस्वेदजाण्डजाः ।
जरायुजा इमे नूनं भूतसङ्घाः समीरिताः ॥ ६१ ॥

मेरी धर्म्मकी धारिकाशक्तिद्वारा ही सब ब्रह्माण्ड और सब ग्रह नक्षत्र आदि लोकसमूह अपनी अपनी कक्षामें सदा स्थित रहते हैं और उसीके द्वारा ऋषि, पितृ, आपलोग और असुरगण भी अपनी अपनी पदमर्यादाकी रक्षा करते हुए संसारकी रक्षामें भलीभांति प्रवृत्त रहते हैं। आपलोग जब स्वधर्म्मसे च्युत होते हो तभी जगत्में विप्लव उपस्थित होता है ॥ ५५–५७ ॥ जिससे लोकोंमें प्राणिमात्र नित्य अत्यन्त क्लेश पाते हैं, मुझमें स्थित अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डयुक्त सृष्टिप्रवाह एकमात्र धर्म्मको अवलम्बन करके ही स्थित है इसी कारण धर्म्म विश्वधारक कहागया है ॥ ५८–५९ ॥ हे देवश्रेष्ठगण ! अनन्त ग्रहउपग्रहमय ब्रह्माण्ड और अनन्त विचित्रतापूर्ण उद्भिज्ज स्वेदज अण्डज और जरायुजरूपी चतुर्विध भूतसंघ,

सर्वानेतान्विनिर्दिष्टे नियमे परिचालयन्।
एक एवाऽस्ति धर्म्मोऽतो जगतां स नियामकः ॥ ६२ ॥
प्रकृतेर्मे वशं याता मूढ़ा जीवगणा हि ये।
क्रमशो मां समायान्ति निश्चितं विबुधोत्तमाः ! ॥ ६३ ॥
विशिष्टचेतना जीवास्तद्वन्मामेव चाऽऽश्रिताः।
मां प्रत्यग्रेसराः सन्तो मामेवायान्ति वै क्रमात् ॥ ६४ ॥
अतः कर्म्म द्विधा मुख्यं सहजं जैवमेव च।
तस्मात् कर्म्मविदो धीरा धर्म्मं कर्म्मेति संजगुः ॥ ६५ ॥
एवं यज्ञस्तथा धर्म्म उभौ पर्य्यायवाचकौ।
कथितौ वेदनिष्णातैः शास्त्रज्ञैः शास्त्रविस्तरे ॥ ६६ ॥
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन जीवा राध्यन्तामसावस्त्विष्टकामधुक् ॥ ६७ ॥
भावयन्तु हि वोऽनेन भवन्तो भावयन्तु तान्।

इनसबको निर्दिष्ट नियम पर चलानेवाला एकमात्र धर्म्म है इस कारण धर्म्मको जगन्नियन्ता कहते हैं ॥ ६०-६२ ॥ हे देवश्रेष्ठगण ! मेरी प्रकृतिके अधीन रहकर मूढ़ जीवगण क्रमशः मुझको निश्चित ही प्राप्त होते हैं ॥ ६३ ॥ और उसी प्रकारसे मुझे ही आश्रय करके विशिष्टचेतन जीवगण क्रमशः मेरी ओर अग्रसर होते हुए मुझको ही प्राप्त करते हैं ॥ ६४ ॥ इसी कारण कर्म्म सहज और जैव रूपसे प्रधानतः दो प्रकारका कहाता है। कर्म्मके जाननेवाले महापुरुषगण इसीसे धर्म्मको कर्म्म नामसे अभिहित करते हैं ॥ ६५ ॥ इसी प्रकार यज्ञ और धर्म्म दोनों पर्य्यायवाचक शब्द हैं इस बातको वेदनिष्णात शास्त्रज्ञोंने शास्त्रविस्तारमें कहा है ॥ ६६ ॥ सृष्टिके प्रारम्भमें यज्ञके साथ ही साथ प्रजाओंको उत्पन्न करके प्रजापतिने कहा, " इससे जीवगण आराधना करें, यह उनलोगोंका अभीष्टप्रदानकारी हो " ॥ ६७ ॥ हे देवगण ! जीवगण इसके द्वारा आपलोगोंको सम्वर्द्धित

परस्परं भावयन्तः श्रेयो देवाः ! अवाप्स्यथ ॥ ६८ ॥
इष्टान् भोगान् भवन्तो हि दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
अदत्त्वा वो भवद्दत्तान् यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥ ६९ ॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ ७० ॥
अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्म्मसमुद्भवः ॥ ७१ ॥
कर्म्म ब्रह्मोद्भवं वित्त ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्व्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ ७२ ॥
एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं देवाः ! स जीवति ॥ ७३ ॥
दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्य्युपासते ।

करें और आपलोग उनको सम्वर्द्धित करें इसी प्रकार परस्पर सम्वर्द्धित होकर सब कल्याण प्राप्त करेंगे ॥ ६८ ॥ आपलोग यज्ञसे सम्वर्द्धित होकर उनको अभिलषित भोग प्रदान करेंगे इसलिये आपके दिये भोगोंको आपलोगोंको अर्पण किये विना ही जो भोगता है वह चोर ही है ॥ ६९ ॥ यज्ञका अवशिष्ट भोजन करनेवाले सज्जनगण सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं किन्तु जो अपने ही लिये भोजन बनाते हैं वे पापिगण पापको ही भोजन करते हैं ॥ ७० ॥ जीवसमूह अन्नसे उत्पन्न होते हैं, अन्न वृष्टि होनेसे उत्पन्न होता है और यज्ञसे वृष्टि होती है एवं यज्ञ कर्म्म द्वारा सम्पन्न होता है ॥ ७१ ॥ कर्म्मको ब्रह्म (वेद) द्वारा उत्पन्न समझो और ब्रह्म (वेद) अक्षर (ब्रह्म) से उत्पन्न है इसलिये सर्व्वव्यापी ब्रह्म यज्ञमें नित्य प्रतिष्ठित है ॥ ७२ ॥ इस लोकमें जो इस प्रकार प्रवर्त्तित चक्रका अनुसरण नहीं करता है, हे देवगण! इन्द्रियासक्त पापजीवन वह व्यक्ति व्यर्थ जीता है ॥ ७३ ॥ कितने योगिगण दैवयज्ञकी ही उपासना करते हैं, कोई

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ ७४ ॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन् विषयानन्ये इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ ७५ ॥
सर्व्वाणीन्द्रियकर्म्माणि प्राणकर्म्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ ७६ ॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ ७७ ॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ ७८ ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ॥
सर्व्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ७९ ॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।

कोई यज्ञरूप उपाय द्वारा ब्रह्मरूपी अग्निमें यज्ञको सम्पन्न करते हैं ॥ ७४ ॥ और कोई २ योगी संयमरूपी अग्निमें अपनी श्रवण आदि इन्द्रियोंका हवन करते हैं और कितने योगिगण इन्द्रियरूपी अग्निमें शब्द आदि विषयोंको हवन करते हैं ॥ ७५ ॥ कितने योगि-गण ज्ञानके द्वारा प्रज्वालित आत्मसंयमरूप योगाग्निमें सम्पूर्ण इन्द्रियकर्म्म और प्राणकर्म्मोंका हवन करते हैं ॥ ७६ ॥ कोई कोई द्रव्यदानरूपी यज्ञ, कोई तपोयज्ञ और कोई योगयज्ञके अनुष्ठाता हैं तथा नियममें दृढ़ रहनेवाले यतिगण स्वाध्याय और ब्रह्मज्ञानरूपी यज्ञका अनुष्ठान करते हैं ॥ ७७ ॥ अन्य कोई कोई अपानमें प्राण और प्राणमें अपानका हवन करते हैं और इस प्रकारसे प्राण अपानकी गतिको जय करके प्राणायामपरायण होजाते हैं ॥ ७८ ॥ अन्य कोई कोई नियताहारी होकर प्राणमें प्राणको हवन करते हैं। यज्ञके द्वारा निष्पाप, यज्ञका अवशिष्ट अमृत भोजन करनेवाले सब यज्ञवेत्ता सनातन ब्रह्मको ही प्राप्त होते हैं । हे देवतागण ! जो लोग

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यस्त्रिदिवौकसः ! ॥ ८० ॥
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्म्मजान् वित्त तान् सर्व्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यते ॥ ८१ ॥
श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज् ज्ञानयज्ञोऽमृतान्धसः ! ।
सर्वं कर्म्माखिलं देवाः ! ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ८२ ॥
अश्रद्दधाना जीवा वै धर्म्मस्यास्य सुधाशनाः ! ।
अप्राप्य मां निवर्त्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ८३ ॥
त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥ ८४ ॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।

यज्ञानुष्ठानसे रहित हैं न उनका इहलोक है और न उनका परलोक ही है ॥७९-८०॥ ब्रह्मके जाननेवालोंके मुखसे इसप्रकारसे बहुप्रकारके यज्ञोंका विस्तार हुआ है उन सबको कर्म्मसे उत्पन्न जानो, ऐसा जानकर तुम मुक्तिको प्राप्त होगे ॥ ८१ ॥ हे अमृतभोजी देवतागण ! द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है क्योंकि ज्ञानमें ही सब कर्म्मोंकी पूर्णरूपसे परि समाप्ति हुआ करती है ॥८२॥ हे सुधाके पान करनेवाले देवतागण ! इस धर्म्ममें अश्रद्धा करनेवाले जीवगण मुझको न प्राप्त करके मृत्युमय संसारमार्गमें लौट आते हैं ॥८३॥ वेदत्रयके अनुसार कर्म्मकाण्डपरायण अर्थात् सकामकर्मीगण यज्ञद्वारा मेरा यजन करके (यज्ञशेषरूपी) सोमपान करते हुए और निष्पाप होते हुए स्वर्गगतिकी प्रार्थना करते हैं, वे लोग पुण्यस्वरूप इन्द्रलोकमें पहुंच कर वहां दिव्य देवभोगसमूह भोग करते हैं ॥ ८४ ॥ वे उन विपुल स्वर्गसुखसमूहको भोग करनेके अनन्तर पुण्य क्षीण होने-

एवं त्रयीधर्म्ममनुप्रपन्ना-
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ ८५ ॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ ८६ ॥
सम्पत्तिमासुरीं प्राहुरधर्म्मस्य विवर्द्धिनीम् ।
धर्म्मप्रवर्द्धिनीं दैवीं सम्पत्तिं तद्वदेव हि ॥ ८७ ॥
तस्मात्सर्व्वैर्हि युष्माभिर्देवैः श्रेयोऽभिकाङ्क्षिभिः ।
कर्त्तव्य आश्रयो दैव्याः सम्पत्तेरेव सर्वदा ॥ ८८ ॥
अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ ८९ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम ।
दया भूतेष्वलोलुपत्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ ९० ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।

पर मृत्युलोकमें लौट आते हैं और वेदत्रयविहित धर्म्मोंको अवलम्बन करके भोगकी इच्छा करते हुए (आवागमनचक्रमें) आया जाया करते हैं ॥ ८५ ॥ मैंही सब यज्ञोंका भोक्ता और प्रभु हूँ परन्तु वे लोग मेरे यथार्थ स्वरूपको नहीं जानते हैं इस कारण उनकी पुनरावृत्ति होती है ॥ ८६ ॥ आसुरी सम्पत्तिको अधर्म्म वर्द्धिनी कहते हैं और उसी प्रकार दैवी सम्पत्तिको धर्म्मवर्द्धिका कहते हैं इस कारण सर्वदा कल्याण चाहनेवाले आप सबको दैवी सम्पत्तिका ही आश्रय लेना उचित है ॥ ८७-८८ ॥ हे देवतागण ! भयशून्यता, चित्तकी प्रसन्नता, आत्मज्ञानके उपायोंमें निष्ठा, दान, इन्द्रियसंयम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, क्रोधका न होना, त्याग, शान्ति, खलताका त्याग, सब भूतोंपर दया, लोभका त्याग, अहङ्कारका त्याग, ह्री अर्थात् पापकर्म्मसे लज्जा, चपलताका त्याग, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य्य, शौच, द्रोहका त्याग और अपने

भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य निर्ज्जराः ! ॥ ९१ ॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानश्चाभिजातस्य देवाः ! सम्पदमासुरीम् ॥ ९२ ॥
दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
नैव शोचत भो देवाः ! दैवीं सम्पदमास्थिताः ॥ ९३ ॥
द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं शृणुतामराः ! ॥ ९४ ॥
प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ९५ ॥
असत्यमप्रतिष्ठञ्च जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम् ॥ ९६ ॥

पूज्य होनेके अभिमानका अभाव, ये सब धर्म्मवृत्तियां दैवी सम्पत्ति-वाले व्यक्तियोंमें हुआ करती हैं ॥ ८६-९१ ॥ हे देवगण ! दम्भ, दर्प, अहङ्कार, क्रोध, निष्ठुरता, अविवेक, ये सब पाप सम्बन्धीय वृत्तियां आसुरी सम्पत्तिवाले व्यक्तियोंमें हुआ करती हैं ॥ ९२ ॥ दैवी सम्पत्तियां मोक्षका कारण होती हैं और आसुरी सम्पत्तियां बन्धनका कारण हुआ करती हैं। इस कारण हे देवतागण ! आपलोग चिन्ता ही न करो क्योंकि आपलोग दैवी सम्पत्तिमें स्थित हो ॥ ९३ ॥ हे अमरगण ! इस संसारके प्राणियोंमें दैवीभाव और आसुरीभाव रूपसे दोप्रकारकी सृष्टि है । इनमेंसे दैवी भावका विस्तारित विवरण कहागया है अब आसुरी भावका विवरण मुझसे सुनो ॥ ९४ ॥ आसुरी प्रकृत्ति वाले व्यक्तिगण प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंको नहीं जानते हैं इस कारण उनमें न शौच है न आचार है और न सत्य है ॥ ९५ ॥ वे असुरभावापन्न लोग कहते हैं कि यह जगत् असत्य है, धर्म्माधर्म्म व्यवस्थाशून्य अप्रतिष्ठ है, ईश्वर शून्य है, विनापरम्परा सम्बन्धके यूंही अचानक उत्पन्न हुआ है, इसका और कुछभी कारण नहीं है केवल

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्म्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९७ ॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वा सद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ ९८ ॥
चिन्तामपरिमेयाश्च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ९९ ॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ १०० ॥
इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १०१ ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥ १०२ ॥

स्त्री पुरुषके कामसे उत्पन्न है ॥ ९६ ॥ ये सब अल्पबुद्धि असुरगण ऐसे विचारोंको आश्रय करके मलिनचित्त उग्रकर्मा और अहितकारी होकर जगत्के नाशके लिये उत्पन्न होते हैं ॥ ९७ ॥ वे लोग पूर्ण नहीं होनेवाली कामनाओंको आश्रय करके, दम्भ अभिमान और गर्वसे युक्त होकर, मोहसे दुराग्रहोंको धारण करके अपवित्र व्रतोंको धारण करते हुए (अकार्य्योंमें) प्रवृत्त हुआ करते हैं ॥ ९८ ॥ मरणकाल-पर्य्यन्त व्यापिनी अपरिमित चिन्ताको आश्रय करते हुए कामभोग-परायण होकर "यह कामभोगही परमपुरुषार्थ है" ऐसा निश्चय करते हुए सैकड़ों आशारूपी पाशोंमें बंधकर और कामक्रोधपरायण होते हुए वेलोग कामभोगके लिये अन्यायपूर्व्वक अर्थसञ्चयकी इच्छा करते हैं ॥९९-१००॥ आज मुझको यह लाभ हुआ, यह मनोरथ प्राप्त होगा, मेरा यह धनहै और यह धन भी मेरा होगा, मेरे द्वारा इस शत्रुका नाश हुआ है, और शत्रुओंका भी नाश करूंगा, मैं ईश्वर हूं, मैं भोगी हूं, मैं सिद्ध हूं, मैं बलवान् हूं, मैं सुखी हूँ, मैं धनवान् हूं, मैं कुलीन हूं, मेरे समान

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ १०३॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ १०४॥
आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥ १०५॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधञ्च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥ १०६॥
तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारे प्राणिनोऽधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ १०७॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढ़ा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव गीर्वाणास्ततो यान्त्यधमां गतिम्॥ १०८॥

और कौन है, मैं यज्ञ करूंगा, मैं दान करूँगा, मैं हर्षको प्राप्त होऊंगा इस प्रकारसे वे अज्ञानसे विमोहित व्यक्तिगण अनेक विषयोंमें अपने चित्तको फसाये हुए विक्षिप्त रहते हैं और मोहमय जालसे आवृत होकर और कामभोगमें आसक्त होकर अपवित्र नरकमें पड़ते हैं॥ १०१-१०४॥ अपने आपकोही बड़े और पूज्य मानते हुए, अविनयी, धनादिकके अभिमानसे अभिमानित और गर्वित होकर वे दम्भके साथ नाममात्रके यज्ञोंद्वारा अविधिपूर्व्वक यजन किया करते हैं॥ १०५॥ अहङ्कार, बल, दर्प, काम और क्रोधको अवलम्बन करते हुए अपने देहमें और औरोंके देहमे रहनेवाला जो मैं हूँ उससे द्वेष करते हुए सच्चे पथके चलनेवाले साधुलोगोंके गुणोंकी निन्दा किया करते हैं॥ १०६॥ मैं संसारमें मेरी हिंसा करनेवाले इन सब क्रूर अधम अशुभ व्यक्तियोंको आसुरीयोनियोंमें ही निरन्तर गिराया करता हूँ॥१०७॥ हे देवतागण! वे मूढ़गण जन्म जन्ममें आसुरीयोनि प्राप्त करके मुझे प्राप्त न करकेही और भी अधमगतिको प्राप्त होते हैं॥१०८॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ १०९ ॥
एतैर्विमुक्तो जीवस्तु तमोद्वारैस्त्रिभिः खलु।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ ११० ॥
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ १११ ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं वः कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्म कर्त्तुमिहार्हथ ॥ ११२ ॥
दैवीभावस्य रक्षायै आसुरीभावतो भयात्।
मयैव वर्णधर्म्मस्य कृता सृष्टिर्दिवौकसः ! ॥ ११३ ॥
प्रवृत्तिरोधको वर्णधर्म्मः सत्त्वविवर्द्धकः।
स्वधर्म्मरक्षकस्तद्वद्दैवीसम्पत्प्रवर्त्तकः ॥ ११४ ॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च सुधाभुजः !।

काम, क्रोध और लोभ, नरकके ये तीन प्रकारके द्वार हैं, ये तीनों आत्मज्ञानके नाशक हैं इस कारण इन तीनोंको त्याग कर देना चाहिये ॥ १०९ ॥ नरकके द्वाररूपी इन तीनोंसे ही विमुक्त जीव अपना मङ्गल करनेवाला आचरण करता है और तदन्तर परमगतिरूपी मोक्षको प्राप्त करता है ॥ ११० ॥ जो व्यक्ति शास्त्रविधिको त्याग करके स्वेच्छानुकूल कार्य्य में प्रवृत्त होता है वह सिद्धि शान्ति और मोक्षको प्राप्त नहीं हो सक्ता ॥१११॥ इस कारण इस विश्वमें यह कार्य्य है और यह अकार्य्य है इसकी व्यवस्था करनेमें शास्त्रही आपके लिये प्रमाण है। शास्त्र-विधानोक्त कर्म्मको जानकर उसको कर सक्ते हो ॥ ११२ ॥ हे देव-गण ! आसुरी भावके भयसे दैवी भाव की रक्षा करनेके लिये मैंने ही वर्णधर्म्मकी सृष्टि की है ॥ ११३ ॥ वर्णधर्म्म प्रवृत्तिरोधक सत्त्वगुण-वर्द्धक स्वधर्म्मरक्षक और दैवीसम्पत्तिप्रवर्त्तक है ॥ ११४ ॥ हे देवगण ! ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्रगणके कर्म्मसमूह पूर्व

कर्म्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ११५ ॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म्म स्वभावजम् ॥ ११६ ॥
शौर्य्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म्म स्वभावजम् ॥ ११७ ॥
कृषिगोरक्षवाणिज्यं वैश्यकर्म्म स्वभावजम् ।
परिचर्य्यात्मकं कर्म्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ११८ ॥
स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभतेऽखिलाः ।
स्वकर्म्मनिरतः सिद्धिं श्रूयतां विन्दते यथा ॥ ११९ ॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्म्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति साधकः ॥ १२० ॥
श्रेयान् स्वधर्म्मो विगुणः परधर्म्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ १२१ ॥

जन्म के संस्कार से उत्पन्न गुण द्वारा विशेषरूपसे विभक्त हैं ॥११५॥ शम, दम, तपस्या, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान विज्ञान और आस्तिक्य, ये सब ब्राह्मणगण के स्वाभाविक कर्म्म हैं ॥ ११६ ॥ शौर्य्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्धसे नहीं भागना, दान और प्रभुताकी शक्ति, ये सब क्षत्रियजातिके स्वाभाविक कर्म्म हैं ॥ ११७ ॥ कृषि, पशुपालन और वाणिज्य, ये वैश्यजातिके स्वाभाविक कर्म्म हैं और परिचर्य्यात्मक कर्म्म शूद्रजातिका भी स्वाभाविक कर्म्म है ॥ ११८ ॥ अपने अपने कर्म्ममें निष्ठावान् सब व्यक्ति सिद्धिको प्राप्त करते हैं । स्वकर्ममें निरत व्यक्ति जिस प्रकारसे सिद्धिको प्राप्त करता है सो सुनो ॥११९॥ जिनसे जीवोंकी प्रवृत्ति अर्थात् चेष्टाका उदय होता है और जो इस सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त हैं, स्वकर्म्मके द्वारा साधक उनकी अर्चना करके सिद्धि प्राप्त करता है ॥ १२० ॥ अपना धर्म्म यदि सदोष भी हो तो वह पूर्णरूपसे अनुष्ठित परधर्म्मकी अपेक्षा श्रेष्ठ है क्योंकि स्वभावसे निश्चित कर्म्मको करताहुआ जीव पापको प्राप्त नहीं होता है ॥ १२१ ॥

सहजं कर्म्म विबुधाः! सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥१२२॥
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति ॥ १२३ ॥
विशिष्टचेतना जीवाः सुराः! त्रिगुणभेदतः ।
चतुर्ष्वेवाऽधिकारेषु विभक्ताः सन्ति सर्व्वदा ॥ १२४ ॥
राक्षसा असुरा देवाः कृतविद्याश्च ते मताः ।
केवलं तम आश्रित्य विपरीतं प्रकुर्व्वते ॥ १२५ ॥
कर्म्म तान्राक्षसानाहुर्गुणभेदविदो बुधाः ।
रजोद्वारेण ये जीवा इन्द्रियासक्तचेतसः ॥ १२६ ॥
तमःप्रधानं विषयबहुलं कर्म्म कुर्व्वते ।
असुरास्ते समाख्याता देवाञ्छृणुत देवताः! ॥ १२७ ॥
रजःसाहाय्यमाश्रित्य कर्म्म सत्त्वप्रधानकम् ।

हे देवतागण! सदोष होनेपर भी सहज अर्थात् स्वभावसे उत्पन्न कर्म्मको त्याग नहीं करना चाहिये क्योंकि जिसप्रकार अग्निको धूम ढककर रहता है उसी प्रकार सब कर्म्मही दोषसे आवृत हैं ॥१२२॥ सब विषयोंमें अनासक्तबुद्धि, जितात्मा और इच्छारहित व्यक्ति सन्न्यास अर्थात् आसक्ति और कर्म्मफलके त्याग द्वारा परमोन्नत नैष्कर्म्य सिद्धि-को प्राप्त करता है ॥१२३॥ हे देवतागण! त्रिगुणके भेदसे विशिष्टचेतन जीव सर्वदा चारही अधिकारोंमें विभक्त हैं॥ १२४ ॥ उन्हींको राक्षस असुर देवता और कृतविद्य कहते हैं। केवल तमोगुणके आश्रित होकर जो विपरीत कर्म्म करते हैं उनको गुणभेदके जाननेवाले विद्वान्लोग राक्षस कहते हैं। जो जीव इन्द्रियासक्त चित्त होकर रजोगुणके द्वारा तमो-न्मुख विषयबहुल कर्म्म करते हैं वे असुर हैं। देवाधिकारके जीवोंका लक्षणसुनो, जो विषयवासना रखते हुए रजकी सहायता लेकर सत्त्वो-

विषयाच्छन्नमतयः कुर्व्वते ते विचक्षणाः ॥ १२८ ॥
शुद्धसत्वे स्थिता ये स्युः कृतविद्या मतास्तु ते ।
अहं तु कृतविद्येषु ह्यादर्शोऽस्मि सुरर्षभाः ! ॥ १२९ ॥
यतो विद्या ममाधीना वर्त्तते सन्ततं ध्रुवम् ।
दृष्टिश्चेद् युष्मदीया मां प्रत्येव सततं भवेत् ॥ १३० ॥
तदा वश्च्यवनं नैव भयं वा न भविष्यति ।
उन्नतिः क्रमशो नूनं युष्माकं च भविष्यति ॥ १३१ ॥

इति श्रीविष्णुगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे देवविष्णुसम्वादे सृष्टिसृष्टिधारकयोगवर्णनं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥

न्मुख कर्म्ममें प्रवृत्त होते हैं वे विचक्षण व्यक्ति देवता कहलाते हैं ॥१२५-१२८॥ और जो शुद्ध सत्त्वगुणमें स्थित हैं वे कृतविद्य कहाते हैं । हे देवतागण ! मैं ही कृतविद्योंका आदर्श हूँ क्योंकि विद्या सदा मेरे अधीन ही रहती है । हे देवतागण ! यदि आपलोगोंकी दृष्टि सदा मेरी हीं ओर रहे तो आपलोगोंका न पतन होगा और न आपको भय होगा और आपलोगोंकी क्रमशः उन्नति अवश्य होगी ॥ १२९-१३१ ॥

इस प्रकार श्रीविष्णुगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योग शास्त्रमें देव महाविष्णु सम्वादात्मक सृष्टिसृष्टिधारकयोगवर्णन नामक द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ।

गुणभावविज्ञानयोगवर्णनम् ।

देवा ऊचुः ॥ १ ॥

देवादिदेव ! धर्म्माभिप्रवर्त्तक ! महाप्रभो ! ।
लोकोत्तरगतिं तद्वद्रहस्यं परमाद्भुतम् ॥ २ ॥
ज्ञात्वा धर्म्मस्य जाताः स्मः कृतकृत्या वयं विभो ! ॥
जगद्गुरो ! चतुर्भेदा भेदतस्त्रिगुणस्य ये ॥ ३ ॥
विशिष्टचेतनापन्नजीवानां कथितास्त्वया ।
त्रिगुणानां हि तेषां वै स्वरूपं गुणभेदतः ॥ ४ ॥
धर्म्माङ्गानाञ्च सर्वेषामाचाराणां तथा प्रभो ! ।
वर्णयन्नः प्रधानानां भेदानुपदिशाखिलान् ॥ ५ ॥
येन द्रष्टुं वयं सर्वे भवन्तं शक्नुमः सदा ।
भावातीतं गुणातीतमवाङ्मनसगोचरम् ॥ ६ ॥

देवतागण बोले ॥ १ ॥

हे देवादिदेव ! हे धर्म्मके प्रवर्त्तक ! हे महाप्रभो ! हेविभो ! धर्म्म-की लोकोत्तर गति और परम अद्भुत रहस्य समझकर हमलोग कृत्यकृत्य हुए । हे जगद्गुरो ! त्रिगुणके भेदसे आपने विशिष्टचेतन जीवोंके जो चार भेद वर्णन किये हैं, हे प्रभो ! उन्हीं त्रिगुणोंका स्वरूप और त्रिगुणोंके विचारसे धर्म्मके सब अङ्गों और प्रधान आचारोंके सम्पूर्ण भेदोंका वर्णन करते हुए हमको ऐसा उपदेश देवें कि जिससे हम सब भावोंसे अतीत, गुणोंसे अतीत और मन वाणीसे अगोचर आपको हरसमय देखनेका सामर्थ्य प्राप्त कर सकें ॥ २-६ ॥

महाविष्णुरुवाच ॥ ७ ॥

लीनाऽव्यक्तदशायां मे प्रकृतिर्मयि सर्वदा ।
तथा व्यक्तदशायां सा प्रकटीभूय सर्वतः ॥ ८ ॥
त्रिगुणानां तरङ्गेषु स्वभावाद्धि तरङ्गति ।
नैवात्र संशयः कोऽपि वर्त्तते विबुधर्षभाः ! ॥ ९ ॥
सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति सुपर्व्वाणो देहे देहिनमव्ययम् ॥ १० ॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघाः ! ॥ ११ ॥
रजो रागात्मकं वित्त तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति भो देवाः ! कर्म्मसङ्गेन देहिनम् ॥ १२ ॥
तमस्त्वज्ञानजं वित्त मोहनं सर्व्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति निर्ज्जराः ! ॥ १३ ॥

महाविष्णु बोले ॥ ७ ॥

मेरी प्रकृति अव्यक्त दशामें मुझमें सर्व्वदा लीन रहती है और व्यक्त दशामें वह प्रकट होकर स्वभावसेही त्रिगुण तरङ्गसे सब ओर तरङ्गित होने लगती है । हे देवतागण ! इसमें कुछ सन्देह नहीं है॥८-९॥ हे देवतागण ! सत्त्व रज और तम ये तीन गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होकर देहोंमें स्थित निर्विकार देहीको आबद्ध किया करते हैं ॥१०॥ हे पापरहितो ! इन तीनों गुणोंमेंसे निर्मल होनेके कारण, प्रकाशक और दोषरहित सत्त्वगुण सुखासक्तिके द्वारा और ज्ञानसंगके द्वारा बद्ध करता है ॥ ११ ॥ हे देवतागण ! रजोगुणको रागात्मक, और तृष्णासक्तिसे उत्पन्न जानना, वह देहीको कर्म्मासक्तिके द्वारा आबद्ध किया करता है ॥ १२ ॥ हे देवतागण ! तमोगुणको अज्ञानसे उत्पन्न और सब प्राणियोंमें भ्रम उत्पन्न करनेवाला जानो, वह प्रमाद अनुद्यम और चित्तकी अवसन्नताके द्वारा देहीको आबद्ध करता है ।

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्म्माणि चामराः ! ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥ १४ ॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं प्रभु भवत्सलम् ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १५ ॥
सर्व्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ १६ ॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्म्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे विबुधर्षभाः ! ॥ १७ ॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे सुरसत्तमाः ! ॥ १८ ॥
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥ १९ ॥

॥ १३ ॥ हे देवतागण ! सत्त्वगुण जीवको सुखमें आबद्ध करता है, रजोगुण कर्म्ममें आबद्ध करता है और तमोगुण ज्ञानको आवरण करके प्रमादमें आबद्ध करता है ॥ १४ ॥ रज एवं तमोगुणको दबा करके सत्त्वगुण बलवान् होता है, सत्त्व एवं तमोगुणको परास्त करके रजोगुण प्रबल होता है और सत्त्व एवं रजोगुणको दबाकरके तमोगुण प्रबल होता है ॥ १५ ॥ जब इस देहमें श्रोत्रादि सब द्वारोंमें ज्ञानमय प्रकाश होता है तब सत्त्वगुणकी विशेष वृद्धि हुई है ऐसा जानना चाहिये ॥ १६ ॥ हे देवतागण ! लोभ, प्रवृत्ति अर्थात् सर्व्वदा सकाम कर्म्म करनेकी इच्छा, कर्म्मोंका आरम्भ अर्थात् उद्यम, अशम अर्थात् अशान्ति एवं स्पृहा अर्थात् विषयतृष्णा, ये सब रजोगुण बढ़ने पर उत्पन्न होते हैं ॥ १७ ॥ हे देवश्रेष्ठो ! विवेकभ्रंश, उद्यमहीनता, कर्त्तव्यके अनुसन्धानका न रहना और मिथ्या अभिमान ये सब तमोगुणके बढ़ने पर उत्पन्न होते हैं ॥ १८ ॥ यदि सत्त्वगुणके विशेषरूपसे बढ़नेपर जीव मृत्युको प्राप्त हो तब वह ब्रह्मवेत्ताओंके प्रकाशमय लोकोंको प्राप्त होता है अर्थात् उसकी उत्तम गति होती है ॥ १९ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्म्मसंगिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढ़योनिषु जायते ॥ २० ॥
कर्म्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ २१ ॥
सत्त्वात् संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ २२ ॥
ऊर्द्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ २३ ॥
नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २५ ॥

रजोगुणकी वृद्धिके समय मृत्यु होनेपर कर्म्मासक्त मनुष्यलोकमें जन्म होता है एवं तमोगुण बढ़नेपर मृतव्यक्ति (पशु प्रेत आदि) मूढ़ योनियोंमें जन्म लेता है ॥ २० ॥ सुकृत अर्थात् सात्त्विक कर्म्मका सात्त्विक और निर्मल फल है, राजसकर्म्मका फल दुःख और तामस कर्म्मका फल अज्ञान अर्थात् मूढ़ता है, ऐसा ज्ञानीलोग कहते हैं॥ २१ ॥ सत्त्वसे ज्ञानोत्पत्ति होती है,रजसे लोभ उत्पन्न होता है और तमोगुण-से प्रमाद अविवेक और अज्ञान उत्पन्न होता है ॥ २२ ॥ सत्त्वप्रधान व्यक्ति उर्द्ध्वलोकको जाते हैं, रजोगुण प्रधान व्यक्ति मध्यलोकमें रहते हैं और निकृष्टगुणावलम्बी तामसिक व्यक्ति अधोलोकमें जाते हैं ॥ २३ ॥ जब ज्ञानी व्यक्ति गुणके अतिरिक्त और किसीको कर्त्ता करके नहीं देखता है और गुणसे परे जो गुणका दर्शक आत्मा है उसको जानता है वह मुझको प्राप्त होजाता है ॥ २४ ॥ देहसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंको अतिक्रमण करके जन्ममृत्युजरारूप दुःखोंसे

प्रकाशञ्च प्रवृत्तिञ्च मोहमेव च निर्ज्जराः !
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ २६ ॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्त्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २७ ॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २८ ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्व्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २९ ॥
माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ३० ॥

मुक्त होकर देही परमानन्दको प्राप्त हो जाता है ॥२५॥ हे देवतागण ! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह (तीनों गुणोंके यथाक्रम कार्य्य) से सब गुणकार्य्य प्रारम्भ होनेपर जो व्यक्ति द्वेष नहीं करता है और इनके निवृत्त होनेपर जो इनमें इच्छा नहीं रखता है वह गुणातीत कहाता है ॥ २६ ॥ जो उदासीन अर्थात् केवल साक्षीरूपसे स्थित है और गुणोंसे जो विचलित नहीं होता है और गुणसमूह अपना अपना कार्य्य करते हैं ऐसा समझकर जो स्थिर रहता है और स्वयं चेष्टा नहीं करता है वह गुणातीत कहाता है ॥ २७ ॥ जिसको सुखदुःख समान हैं, जो आत्मामें अवस्थित है, जिसके लिये मिट्टीका ढेला पत्थर और सुवर्ण सब समान हैं. जिसके निकट प्रिय और अप्रिय दोनों समान हैं, जिसने अपनी इन्द्रियोंको जय करलिया है और जिसके निकट निन्दा और स्तुति दोनों समान हैं वह गुणातीत कहाता है ॥ २८ ॥ जो मान अपमान में समभाव रखता है, जो मित्र और शत्रुके विषयमें समभाव रखता है और सब कर्म्मोंके आरम्भका त्याग करनेवाला है अर्थात् जो नवीन कर्म्म नहीं करता वह गुणातीत कहाता है ॥ २९ ॥ और जो एकान्त भक्तियोगके द्वारा मेरी सेवा करता है वह इन गुणोंको विशेषरूपसे अतिक्रमण करके

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्म्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ ३१ ॥
धर्म्मस्य साम्प्रतं देवाः ! विशेषाणां ब्रवीम्यहम् ।
अङ्गानां त्रिविधं रूपं युष्माभिरवधार्य्यताम् ॥ ३२ ॥
यज्ञो दानं तपस्त्रीणि धर्म्माङ्गानि प्रधानतः ।
तेषु यज्ञः प्रधानं स्यात्तस्य भेदास्त्रिधा मताः ॥ ३३ ॥
ज्ञानोपासनकर्म्माणि यदुक्तानि मनीषिभिः ।
सर्वशास्त्रेषु निष्णातैस्तत्त्वज्ञानाब्धिपारगैः ॥ ३४ ॥
विशिष्टचेतनायुक्ता नराद्या जीवजातयः ।
स्वस्वाभाविकयोः सौख्यैश्वर्य्ययोस्त्यागतो ध्रुवम् ॥ ३५ ॥
अदृष्टशक्तिं परमां यां लभन्ते सुरर्षभाः ! ।
तमेव यज्ञं समाहुः सर्व्वे तत्त्वविवेचकाः ॥ ३६ ॥
एतेषामेव सर्व्वेषामङ्गानां क्रमशः सुराः ! ।
शृणुदूध्वं त्रिविधान् भेदान् वच्म्यहं गुणभेदतः ॥ ३७ ॥

ब्रह्मभावको प्राप्त होता है ॥ ३० ॥ क्योंकि मैं नित्यस्थित और मोक्षस्वरूप ब्रह्मके प्रतिष्ठा (स्थिति) का स्थान हूं, मैंही सनातनधर्म्म और ऐकान्तिक सुखका स्थान हूं ॥ ३१ ॥ हे देवतागण ! अब मैं धर्म्मके विशेष विशेष अङ्गोंका त्रिविध स्वरूप वर्णन करता हूं आपलोग ध्यानपूर्वक सुनिये ॥ ३२ ॥ धर्म्मके प्रधान तीन अंग हैं, यज्ञ तप और दान । उनमें मुख्य अङ्ग जो यज्ञ है उसके तीन भेद हैं ॥३३॥ ज्ञान कर्म्म और उपासना, इस बातको सर्वशास्त्रनिष्णात तत्त्वज्ञानी पण्डितोंने कहा है ॥ ३४ ॥ हे देवतागण ! विशिष्टचेतन मनुष्य आदि जीवगण अपने स्वाभाविक सुख और ऐश्वर्य्यके त्याग द्वारा जो परम अदृष्ट शक्ति अवश्य प्राप्त करते हैं उसीको तत्त्वविवेचक लोग यज्ञ कहते हैं ॥ ३५–३६ ॥ हे देवतागण ! इन्हीं सब अङ्गोंके त्रिविध भेदोंको क्रमशः बतलाता हूं, आपलोग समाहितचित्त होकर सुनिये ॥ ३७ ॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ ३८ ॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ४० ॥
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं सुराः ! ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ ४१ ॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ ४२ ॥
मूढग्राहेणात्मनो यत् पीड़या क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थम्वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ४३ ॥
नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।

"दान करना उचित है" इस विचारसे देश काल और पात्रकी विवेचना करके प्रत्युपकार करनेमें असमर्थ व्यक्तिको जो दान किया जाता है वह सात्त्विदान कहा गया है ॥ ३८ ॥ किन्तु जो दान प्रत्युपकारके लिये अथवा फलकी चाहना करके कष्टपूर्वक दिया जाता है उस दानको राजस दान कहते हैं ॥ ३९ ॥ देश और कालकी विवेचना न करके, सत्कारशून्य और तिरस्कारपूर्वक अपात्रोंको जो दान दिया जाता है वह तामस दान कहाता है ॥ ४० ॥ हे देवगण ! आत्मामें अवस्थित व्यक्तियोंके द्वारा परम श्रद्धापूर्वक और फल-कामना रहित होकर अनुष्ठित शारीरिक वाचनिक और मानसिक तपको सात्त्विक कहते हैं ॥ ४१ ॥ सत्कार मान और पूजाके लिये एवं दम्भपूर्वक जो तपस्याकी जाती है इस लोकमें अनित्य और क्षणिक वह तपस्या राजस कही जाती है ॥ ४२ ॥ अविवेकके वश होकर दूसरोंके नाशके अर्थ वा आत्मपीड़ाके द्वारा जो तपस्या की जाती है उसको तामस कहते हैं ॥ ४३ ॥ निष्काम व्यक्तियोंके

अफलप्रेप्सुना कर्म्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ ४४ ॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म्म साहङ्कारेण वा पुनः ।
क्रियते वहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ ४५ ॥
अनुवन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ ४६ ॥
मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते ॥ ४७ ॥
रागी कर्म्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्त्तितः ॥ ४८ ॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोऽनैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ॥ ४९ ॥
उपास्तेः प्राणरूपा या भक्तिः प्रोक्ता दिवौकसः ! ।
गुणत्रयानुसारेण सा त्रिधा वर्त्तते ननु ॥ ५० ॥

द्वारा नियमितरूपसे विहित, आसक्तिशून्य और रागद्वेषरहित होकर जो कर्म्म किया जाता है उसे सात्त्विक कर्म कहते हैं ॥ ४४ ॥ फलाकाङ्क्षी वा अहङ्कारयुक्त व्यक्तियोंके द्वारा बहुत आयाससे जो कर्म्म कियाजाता है उसको राजस कहते हैं ॥ ४५ ॥ परिणाममें बन्धन, नाश, हिंसा और सामर्थ्य इन सबकी उपेक्षा करके मोहवश जो कर्म प्रारम्भ किया जाता है उसको तामस कहते हैं ॥ ४६ ॥ आसक्तिशून्य, "अहं" इस अभिमानसे शून्य, धैर्य्य और उत्साहयुक्त, सिद्धि और असिद्धिमें विकारशून्य कर्त्ता सात्त्विक कहाजाता है ॥ ४७ ॥ विषयानुरागी, कर्मफलाकाङ्क्षी, लोभी, हिंसाशील, अशुचि, (लाभालाभमें) आनन्द और विषादयुक्त कर्ता राजस कहा जाता है ॥ ४८ ॥ इन्द्रियासक्त, विवेकहीन, उद्धत, शठ, निष्कृति-शून्य, आलस्ययुक्त, विषाद युक्त और दीर्घसूत्री कर्त्ता तामस कहा-जाता है ॥४९॥ हे देवगण! उपासना की जो प्राणरूपा भक्ति कही गई है वह भक्ति तीन गुणोंके अनुसार निश्चय तीन प्रकारकी है ॥ ५० ॥

अर्त्तानां तामसी सा स्याज्जिज्ञासूनाञ्च राजसी ।
सात्त्विक्यर्थार्थिनां ज्ञेया उत्तमा सोत्तरोत्तरा ॥ ५१ ॥
भूतप्रेतपिशाचादीनासुरं भावमाश्रितान् ।
अर्चन्ति तामसा भक्ता नित्यं तद्भावभाविताः ॥ ५२ ॥
सकामा राजसा ये स्युः ऋषीन् पितॄंश्च देवताः ।
बह्वीर्दैवीश्च मे शक्तीः पूजयन्तीह ते सदा ॥ ५३ ॥
केवलं सात्त्विका ये स्युर्मद्भक्ताः साधका इह ।
त एव ज्ञात्वा मद्रूपं मम भक्तौ सदा रताः ॥ ५४ ॥
पञ्चानां सगुणानां ते मद्रूपाणां समाश्रयात् ।
मद्ध्यानमग्नास्तिष्ठन्ति निर्गुणं ह्यथवा मम ॥ ५५ ॥
सच्चिदानन्दभावं तं भावं परममाश्रिताः ।
मम ध्यानाम्बुधौ मग्ना नन्दन्ति नितरां सुराः ! ॥ ५६ ॥
ज्ञानी भक्तस्तु भगवद्रूप एव मतो यतः ।
गुणातीतस्य तस्यात्र न निवेशो विधीयते ॥ ५७ ॥

आर्त्तभक्तोंकी भक्ति तामसी, जिज्ञासु भक्तोंकी भक्ति राजसी और अर्थार्थी भक्तोंकी भक्ति सात्त्विकी जानना चाहिये। इन तीन प्रकारकी भक्तियोंमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है ॥ ५१ ॥ तामसिक भक्त आसुरीसम्पत्तियुक्त भूत प्रेत पिशाचादिकी उपासना तत्तद्भावोंमें भावित होकर नित्य करते हैं ॥५२॥ सकाम राजसिक भक्त ऋषि देवता और पितर एवं मेरी बहुतसी दैवीशक्तियोंकी उपासना सदा करते हैं ॥५३॥ इस संसारमें केवल जो साधक मेरे सात्त्विक भक्त हैं वेही मेरे रूपको जानकर सदा मेरी भक्तिमें तत्पर रहते हैं ॥ ५४ ॥ वे मेरे पांच सगुण रूपोंके आश्रयसे मेरे ध्यानमें मग्न रहते हैं अथवा मेरे निर्गुण परमभावरूप उस सच्चिदानन्द भावका आश्रय करके मेरे ध्यानरूप समुद्रमें मग्न होकर हे देवगण ! अत्यन्त आनन्द उपभोग करते हैं ॥ ५५-५६ ॥ और चतुर्थ ज्ञानी भक्त तो भगवद्रूपही है क्योंकि वह गुणातीत है अतः उसका यहां विचार नहीं किया गया है ॥ ५७ ॥

श्रद्धावान् साधको यश्च भोगमैहिकमेव हि।
विशेषतः समीहेत दम्भाहङ्कारसंयुतः॥ ५८॥
इष्टं वेदविधिं हित्वा मदुपासनतत्परः।
विज्ञेयो लक्षणादस्मात् तामसः स उपासकः॥ ५९॥
यः श्रद्धालुर्विशेषेण पारलौकिकमेव हि।
सुखमिच्छँस्तथा शीलगुणराशियुतो यदि॥ ६०॥
वेदानुसारतः सक्तो मदुपास्तौ हि साधकः।
राजसः स हि विज्ञेय उपासक इति स्मृतिः॥ ६१॥
सात्त्विक्या श्रद्धया युक्तो भाग्यवान् विबुधर्षभाः॥
वितृष्णो लौकिकाद्भोगात्तद्वद्वै पारलौकिकात्॥ ६२॥
साधकोऽनन्यया वृत्त्या ज्ञानतो निरतः सदा।
मदुपास्तौ स विज्ञेयः सात्त्विकोपासको वरः॥ ६३॥
सर्व्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं वित्त सात्त्विकम्॥ ६४॥

जो श्रद्धावान् साधक ऐहलौकिक भोगकी ही विशेषरूपसे इच्छा करे, दम्भ और अहङ्कारसे युक्त हो और उपयुक्त वेदविधिका त्याग करके मेरी उपासनामें तत्पर हो, इन लक्षणोंसे उस उपासकको तामसिक उपासक जानना चाहिये॥ ५८-५९॥ जो श्रद्धालु साधक पारलौकिक सुखको ही विशेषरूपसे चाहता हुआ यदि शीलगुणोंसे युक्त होकर वेदविधिके अनुसार मेरी उपासनामें आसक्त रहता है तो उसको राजसिक उपासक जानना चाहिये, ऐसा स्मृतिकारोंका मत है॥ ६०-६१॥ हे देवश्रेष्ठो! जो भाग्यवान् साधक सात्त्विकी श्रद्धासे युक्त होकर ऐहलौकिक और पारलौकिक भोगोंकी तृष्णासे रहित होता हुआ ज्ञानपूर्व्वक अनन्यवृत्तिसे मेरी उपासनामें सदा तत्पर रहता है उसको श्रेष्ठ सात्त्विक उपासक जानना चाहिये॥ ६२-६३॥ जिस ज्ञानके द्वारा विभक्त रूप सब भूतोंमें अविभक्त, एक और विकारहीन भाव ज्ञानी देखता है उस ज्ञानको सात्त्विक ज्ञान जानो॥ ६४॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्व्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं वित्त राजसम् ॥ ६५ ॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्य्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पञ्च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ६६ ॥
सुराः ! शृणुध्वमधुना सम्बन्धात्त्रिगुणस्य ह ।
अन्यान्यपि रहस्यानि कानिचिद्वर्णयाम्यहम् ॥ ६७ ॥
सत्त्वावलम्बिनो यूयं शृण्वन्तो भवतादरात् ।
सत्त्वं क्रमाद्वर्द्धयद्भिर्नैस्त्रैगुण्ये च यत्यताम् ॥ ६८ ॥
अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ६९ ॥
अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते विबुधश्रेष्ठाः ! तं यज्ञं वित्त राजसम् ॥ ७० ॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।

जो ज्ञान पृथक् रूपसे सब भूतोंमें पृथक् पृथक् प्रकारके नाना भाव जानता है उस ज्ञानको राजसिक ज्ञान जानो ॥ ६५ ॥ किन्तु जो एक कार्य्यमें परिपूर्णवत् आसक्त, हेतुशून्य, परमार्थरहित और अल्प अर्थात् तुच्छ ज्ञान है उसको तामस ज्ञान कहते हैं ॥ ६६ ॥ हे देवगण ! अब मैं त्रिगुणसम्बन्धसे अन्यान्य रहस्य कुछ वर्णन करता हूं सो सुनिये ॥ ६७ ॥ और आप उनको आदरपूर्व्वक सुनते हुए सत्त्वगुणावलम्बी होइये और क्रमशः सत्त्वगुणकी वृद्धि करते हुए गुणातीत पदके लिये प्रयत्न करिये ॥ ६८ ॥ फलाकाङ्क्षारहित व्यक्ति "यज्ञानुष्ठान अवश्य कर्तव्य कर्म्म है" ऐसा विचार कर और मनको समाहित करके जिस विधिविहित यज्ञको करते हैं उसको सात्त्विक कहते हैं ॥६९॥ किन्तु हे देवश्रेष्ठो ! फल मिलनेके उद्देश्यसे अथवा केवल अपने महत्त्वके प्रकट करनेके अर्थ जो यज्ञ किया जाता है उस यज्ञ को राजस जानो ॥ ७० ॥ शास्त्रोक्त विधिसे रहित,

श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ ७१ ॥
प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्य्याकार्य्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति बुद्धिः सा सात्त्विकी सुराः ! ॥ ७२ ॥
यया धर्म्ममधर्म्मञ्च कार्य्यञ्चाकार्य्यमेव च।
अयथावत प्रजानाति बुद्धिः सा राजसी मता ॥ ७३ ॥
अधर्म्मं धर्म्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्व्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा तामसी मता ॥ ७४ ॥
धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या देवाः ! सा सात्त्विकी धृतिः ॥७५ ॥
यया तु धर्म्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽमराः !।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा राजसी मता ॥ ७६ ॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा तामसी सुराः ! ॥ ७७ ॥

(सत्पात्रमें) अन्नदानशून्य, मन्त्रहीन, दक्षिणाहीन और श्रद्धारहित यज्ञको तामस यज्ञ कहते हैं ॥ ७१ ॥ हे देवतागण ! प्रवृत्ति निवृत्ति, कार्य्य अकार्य्य, भय अभय और बन्ध मोक्ष जो जानती है वह सात्त्विकी बुद्धि है ॥ ७२ ॥ जिसके द्वारा धर्म्म अधर्म्म और कार्य्य अकार्य्य यथावत् परिज्ञात न हो उसको राजसी बुद्धि कहते हैं ॥ ७३ ॥ जो बुद्धि अधर्म्म को धर्म्म मानती है और सब विषयोंको विपरीत मानती है उस तमोगुणाच्छन्न बुद्धिको तामसी बुद्धि कहते हैं ॥७४॥ हे देवतागण ! योगके द्वारा विषयान्तर धारणा न करनेवाली जिस धृतिसे मन प्राण और इन्द्रियोंकी क्रिया धारण की जाती है अर्थात् नियमन होती है वह धृति सात्त्विकी धृति है ॥ ७५ ॥ हे देवतागण ! जिस धृतिके द्वारा (जीव) धर्म अर्थ और कामको धारण करता है एवं प्रसङ्गवश फलाकाङ्क्षी होता है उस धृतिको राजसी कहते हैं ॥ ७६ ॥ हे देवतागण ! विवेकहीन व्यक्ति जिसके द्वारा निद्रा, भय, शोक, विषाद और अहङ्कारका त्याग

स्मृतिं व्यतीतविषयां मतिमागामिगोचराम् ।
प्रज्ञां नवनवोन्मेषशालिनीं प्रतिभां विदुः ॥ ७८ ॥
द्रष्टृदृश्ययस्योपलब्धौ क्षमा चेत् प्रतिभा तदा ।
सात्त्विकी सा समाख्याता सर्व्वलोकहिते रता ॥ ७९ ॥
यदा शिल्पकलायां सा पदार्थालोचने तथा ।
प्रसरेद्राजसी ज्ञेया तदा सा प्रतिभा बुधैः ॥ ८० ॥
साधारणं लौकिकञ्चेत् सदसाद्विमृशेत्तदा ।
तामसी सा समाख्याता प्रत्युत्पन्नमतिश्च सा ॥ ८१ ॥
त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिप्रकृतिभेदतः ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी च बुभुत्सवः ! ॥ ८२ ॥
तासान्तु लक्षणं देवाः ! शृणुध्वं भक्तिभावतः ।
श्रद्धा सा सात्त्विकी ज्ञेया विशुद्धज्ञानमूलिका ॥ ८३ ॥

नहीं करता है वही तामसी धृति है ॥७७॥ अतीत विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रज्ञाको स्मृति, आगामि विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रज्ञा को बुद्धि और नवीन नवीन (ज्ञान विज्ञानोंको) उद्भव करनेवाली प्रज्ञाको प्रतिभा कहते हैं ॥ ७८ ॥ जब द्रष्टा और दृश्यकी उपलब्धिमें प्रतिभा समर्थ होती है तब सब लोकोंके हितमें तत्पर वह प्रतिभा सात्त्विकी कही जाती है ॥ ७९ ॥ जब वह शिल्पकला और पदार्थोंकी आलोचनामें प्रसारको प्राप्त होती है तब उस प्रतिभाको बुधगण राजसी प्रतिभा जानते हैं ॥ ८० ॥ जब वह साधारण लौकिक सत् असत्का विचार करे तो उसको तामसी प्रतिभा कहते हैं और उसको प्रत्युत्पन्नमति भी कहते हैं ॥ ८१ ॥ हे जिज्ञासुओ ! प्राणियोंकी प्रकृतिके अनुसार श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है, सात्त्विकी राजसी और तामसी ॥ ८२ ॥ हे देवतागण ! अब उनके लक्षण भक्ति भावसे सुनो । जो विशुद्धज्ञानमूलक श्रद्धा है उसको सात्त्विकी जानो ॥८३॥

प्रवृत्तिमूलिका चैव जिज्ञासामूलिका परा ।
विचारहीनसंस्कारमूलिका त्वन्तिमा मता ॥ ८४ ॥
वेदेष्वथ पुराणेषु तन्त्रेऽपि श्रुतिसम्मते ।
भयानकं रोचकं हि यथार्थमिति भेदतः ॥ ८५ ॥
वाक्यानि त्रिविधान्याहुस्तद्विदो मद्विभावकाः ।
श्रूयतां दत्तचित्तैर्हि तत्राऽस्त्येवं व्यवस्थितिः ॥ ८६ ॥
पापाच्चाऽज्ञानसम्भूताद्विषयाद्भीतिकृद्वचः ।
भयानकमिति प्राहुर्ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ८७ ॥
मुक्तेऽध्यात्मलक्ष्ये च रुचिकृद्वचनं सुराः ! ।
रोचकं तद्धि विज्ञेयं श्रुतौ तन्त्रपुराणयोः ॥ ८८ ॥
अध्यात्मतत्त्वसंश्लिष्टं तत्त्वज्ञानोपदेशकम् ।
वचो यथार्थं सम्प्रोक्तं यूयं जानीत निर्ज्जराः ! ॥ ८९ ॥
भयानकं वचो नित्यं तामसायाधिकारिणे ।

प्रवृत्ति और जिज्ञासामूलक श्रद्धा राजसी है और विचारहीन-संस्कारमूलक श्रद्धा तामसी कहीगई है ॥ ८४ ॥ वेद, पुराण और श्रुतिसम्मत तन्त्रोंमें भयानक रोचक और यथार्थ इन भेदोंसे तीन प्रकारके वाक्य मेरे भावोंसे भावित तत्त्ववेत्ताओंने कहे हैं । इस विषयमें निम्नलिखित प्रकारसेही व्यवस्था है सो चित्त लगाकर सुनिये ॥८५–८६ ॥ पापसे और अज्ञानसम्भूत विषयसे डर दिखानेवाले जो वचन हैं तत्त्वदर्शी ज्ञानिगण उनको भयानक कहते हैं ॥ ८७ ॥ हे देवगण ! पुण्यमें और अध्यात्म लक्ष्यमें रुचि उत्पन्न करनेवाले जो वचन वेद तन्त्र और पुराणोंमें हैं उनको रोचक जानना चाहिये ॥ ८८ ॥ अध्यात्मतत्त्वसे युक्त और तत्त्वज्ञानका उपदेश देनेवाले वचनको हे देवगण ! यथार्थ वचन कहते हैं ऐसा आप जानिये ॥ ८९ ॥ हे विबुधोत्तमो ! भयानक वचन सदाही तामसिक अधिकारीके लिये,

रोचकं राजसायैव यथार्थं सात्त्विकाय वै ॥ ९० ॥
विशेषतो हितकरं विज्ञेयं विबुधोत्तमाः ! ।
अतोऽधिकारभेदेन वचनं व्याहृतं सुराः ! ॥ ९१ ॥
श्रुतौ पुराणे तन्त्रे च त्रिधा वर्णनरीतयः ।
दृश्यन्ते क्रमशः सर्वास्ता वच्मि भवतां पुरः ॥ ९२ ॥
समाधिभाषा प्रथमा लौकिकी च तथाऽपरा ।
तृतीया परकीयेति शास्त्रभाषा त्रिधा स्मृता ॥ ९३ ॥
इतिहासमयी शश्वत्कर्णयोर्मधुराऽमला ।
मनोमुग्धकरी तद्वच्चित्ताह्लादविवर्द्धिनी ॥ ९४ ॥
धर्म्मसिद्धान्तसंयुक्ता समासबहुला न हि ।
ज्ञेया सा परकीयेति शास्त्रवर्णनपद्धतिः ॥ ९५ ॥
इमामज्ञानिने तद्वत्तामसायाऽधिकारिणे ।
विशेषतो हितकरीं प्राहुस्तत्तत्त्वदर्शिनः ॥ ९६ ॥

रोचक वचन राजसिक अधिकारीके ही लिये और यथार्थ वचन सात्त्विक अधिकारी के लिये ही विशेषरूपसे हितकर हैं ऐसा जानना चाहिये, इसलिये हे देवतागण ! शास्त्रोंमें अधिकारभेद से वचन कहेगये हैं ॥ ९०-९१ ॥ वेद पुराण और तंत्रों में तीन प्रकारकी वर्णन शैलियां देखी जाती हैं उन सबोंको आपलोगोंके सामने में क्रमश कहता हूँ ॥ ९२ ॥ पहली समाधिभाषा, दूसरी लौकिकभाषा और तीसरी परकीयभाषा, इस प्रकारसे शास्त्रकी भाषा तीन प्रकारकी कहीगई है ॥ ९३ ॥ जिसमें निरन्तर इतिहास आवे, जो निर्मल और श्रुतिमधुर हो, जो मनको लुभानेवाली और इसी तरह चित्तके आह्लादको बढ़ानेवाली हो, जो धर्मसिद्धान्तोंसे युक्त हो और जिसमें जटिलता न हो उस शास्त्रवर्णनकी पद्धतिको परकीया जानना चाहिये ॥ ९४-९५ ॥ इस पद्धतिके तत्त्वदर्शीगण इसको अज्ञानीके लिये और इसी तरह तामसिक अधिकारीके लिये विशेष हितकरी

अतीन्द्रियाध्यात्मराज्यस्थितं विषयगह्वरम् ।
लौकिकीं रीतिमाश्रित्य वर्णयेद् याऽतिसंस्फुटम् ॥ ९७ ॥

तथा समाधिगम्यानां भावानां प्रतिपादिका ।
सा पूर्णा लौकिकैस्तद्वद्रसैर्भाषाऽस्ति लौकिकी ॥ ९८ ॥

इयं राजसिकायैव साधकायाधिकारिणे ।
सूतेऽधिकं सदा भव्यं सत्यं सत्यं दिवौकसः ! ॥ ९९ ॥

प्रकाशयति या ज्ञानं कार्य्यकारणब्रह्मणोः ।
समाधिसिद्धभावैर्या सम्पूर्णा सर्व्वतस्तथा ॥ १०० ॥

तत्त्वज्ञानमयी तद्वद्या हि वर्णनपद्धतिः ।
ज्ञेया समाधिभाषा सा सात्त्विकायोपकारिका ॥ १०१ ॥

श्रवणं मननं तद्वन्निदिध्यासनमेव च ।
एतत्त्रितयरूपो यः पुरुषार्थ इहोच्यते ॥ १०२ ॥
निवृत्तिमूलकं भूत्वा सक्तं ब्रह्मनिरूपणे ।

कहते हैं ॥ ९६ ॥ अतीन्द्रिय अध्यात्म राज्यमें स्थित गूढ़ विषयको लौकिकरीतिका आश्रय लेकर जो अच्छीतरह वर्णन करे तथा समाधिगम्य भावोंकी प्रतिपादिका हो और इसी तरह लौकिक रसोंसे भी पूर्ण हो वह भाषा लौकिकी भाषा है ॥ ९७-९८ ॥ हे देवतागण ! यह भाषा राजसिक अधिकार वाले ही साधकके लिये सदा अधिक कल्याण पैदा करती है, यह सत्य है सत्य है ॥ ९९ ॥ जो भाषा कार्य्य ब्रह्म और कारण ब्रह्मके ज्ञानको प्रकाशित करदेती है तथा जो भाषा सर्व्वत्र समाधिसिद्ध भावोंसे पूर्ण हो और इसी तरह जो वर्णनपद्धति तत्त्वज्ञानमयी हो उसको समाधिभाषा जानना चाहिये । वह सात्त्विक अधिकारीके लिये हितकरी है ॥१००-१०१॥ श्रवण मनन और निदिध्यासन, यह जो त्रितयरूप पुरुषार्थ जगत्में कहा जाता है वह सब त्रितयरूप पुरुषार्थ जब निवृत्ति

यदा चेत् त्रितयं सर्व्वं तदा तत् सात्त्विकं मतम् ॥ १०३ ॥
यदा तत्त्रयमुत्पत्तिस्थितिलयस्वरूपिणि ।
भावे भावं समासाद्य द्वैतरूपं निषेवते ॥ १०४ ॥
तदा तं राजसं देवाः ! पुरुषार्थं प्रचक्षते ।
यो हि नास्तिकतामूलः स तामस उदाहृतः ॥ १०५ ॥
आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥१०६॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ १०७ ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्य्युषितञ्च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १०८ ॥
सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणुतामृतभोजिनः ! ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तञ्च निगच्छति ॥ १०९ ॥

मूलक होकर ब्रह्मके निरूपणमें लगता है तब वह सात्त्विक माना जाता है ॥ १०२-१०३ ॥ हे देवतागण ! जब वह उत्पत्ति स्थिति लय-स्वरूप भावमें भावित होकर द्वैतरूपको प्राप्त होता है तब उस त्रितयरूप पुरुषार्थको राजसिक कहते हैं और जो नास्तिकता-मूलक त्रितयरूप पुरुषार्थ है वह तामसिक कहागया है ॥ १०४-१०५ ॥ आयु, सात्त्विकभाव, शक्ति, आरोग्य, चित्तप्रसाद और रुचिके बढानेवाले, रसयुक्त एवं स्नेहयुक्त, जिनका सारांश देहमें स्थायीरूपसे रहे और चित्तको परितोष करनेवाले आहार सात्त्विक पुरुषोंके प्रिय होते हैं ॥ १०६ ॥ कटु, अम्ल, लवण (क्षार) अत्युष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष, विदाही ये सब दुःख सन्ताप और रोगप्रद आहार राजसिक व्यक्तियोंके प्रिय हैं॥१०७॥ एक पहर पहले बना हुआ (ठंडा) विरस, दुर्गन्धयुक्त, बासी, झूंठा और अपवित्र जो आहार है वह तामसिक व्यक्तियोंको प्रिय होता है॥ १०८ ॥ हे देवतागण ! अब सुनो सुख भी तीन प्रकारका है। जिस सुखमें अभ्याससे अर्थात् स्वतः ही

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ११० ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ १११ ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ११२ ॥

नियतस्य तु सन्न्यासः कर्म्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः ॥ ११३ ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ११४ ॥

कार्य्यमित्येव यत्कर्म्म नियतं क्रियतेऽमराः ! ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥११५॥

परमानन्द लाभ करता है और दुःखका अन्त प्राप्त करता है, वह आदिमें विषवत् किन्तु परिणाममें अमृततुल्य और आत्मबुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न सुख सात्त्विक कहाजाता है॥१०९–११०॥ विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे आदिमें अमृततुल्य किन्तु परिणाममें विषतुल्य सुख राजस कहाजाता है ॥१११॥ निद्रा आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न एवं आदि और अन्तमें चित्तमें मोह उत्पन्न करनेवाला जो सुख है उसे तामस कहते हैं ॥ ११२ ॥ नित्यकर्मका त्याग नहीं हो सक्ता, मोहवश जो नित्यकर्मका त्याग होता है उसे तामस त्याग कहते हैं ॥ ११३ ॥ जो व्यक्ति "दुःख होता है" ऐसा जानकर दैहिक क्लेशके भयसे कर्म त्याग करता है वह राजस त्याग करके त्यागका फल नहीं प्राप्त करता है ॥ ११४ ॥ हे देवतागण ! इन्द्रियसङ्ग और फलका त्याग करके " कर्त्तव्य " जानकर जो नियमपूर्वक कर्म किया जाता है वह त्याग सात्त्विक त्याग मानागया है ॥ ११५ ॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि युष्मासु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥ ११६॥
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्याः स्त निर्जराः!।
निर्द्वन्द्वा नित्यसत्त्वस्था निर्योगक्षेमकात्मकाः॥ ११७॥
यावानर्थ उदपाने सर्व्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्व्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ ११८॥
चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म्मविभागशः।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम्॥ ११९॥
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् विद्ध न त्वहं तेषु ते मयि॥ १२०॥
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्व्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ १२१॥

पृथिवीमें स्वर्गमें वा आप लोगोंमें ऐसा जीव नहीं है जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीन गुणोंसे छुटा हुआ हो॥११६॥हे देवतागण! सब वेदोंमें तीनों गुणोंका ही विषय है, तुम तीनों गुणोंसे रहित होजाओ, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे रहित हो जाओ, नित्य सत्त्वगुणमें रहो, अलब्ध वस्तुके लाभमें और लब्धवस्तुकी रक्षामें यत्नशून्य होजाओ एवं आत्मवान् अर्थात् अप्रमत्त होजाओ॥ ११७॥ सब स्थान जलमें डूब जानेपर क्षुद्र जलाशयसे जितना प्रयोजन रहता है, ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मज्ञको सब वेदोंसे उतनाही प्रयोजन रहता है॥ ११८॥ मैंने गुण और कर्म्मोंके विभाग द्वारा चारों वर्णोंकी सृष्टि की है, उनका कर्त्ता होने पर भी अव्यय होनेके कारण मुझको अकर्त्ता जानो॥ ११९॥ जो सब सात्त्विकभाव, राजसिकभाव एवं तामसिकभाव हैं वे सब मुझसेही उत्पन्न हुए हैं ऐसा उनको जानो। मैं उन सबमें नहीं हूँ परन्तु वे मुझमें हैं॥ १२०॥ इन तीन गुणमय भावोंसे मोहित यह सब जगत् इन सब भावोंसे अतीत एवं निर्विकारस्वरूप मुझको नहीं जानता

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १२२ ॥

देवा ऊचुः ॥ १२३ ॥

गुणत्रयस्य विज्ञानं गुरो ! तव मुखाम्बुजात् ।
कृतकृत्या वयं जाताः श्रुत्वा तन्महदद्भुतम् ॥ १२४ ॥
इदानीञ्च वयं सर्व्वे भवतः कृपया विभो ! ।
रजस्तमोऽभिसंसक्ता नाऽधःपातं व्रजेम हि ॥ १२५ ॥
कृपासिन्धो ! वयं येन ज्ञानेन त्रिगुणस्य वै ।
रहस्यं द्रष्टुमर्हाः स्मः प्रत्यक्षं सर्वदैव हि ॥ १२६ ॥
तथैव सर्व्वदाऽस्मासु शक्तिस्त्रिगुणदार्शिनी ।
विशेषतोऽनिशं तिष्ठेत्तज्ज्ञानं नः समादिश ॥ १२७ ॥

महाविष्णुरुवाच ॥ १२८ ॥

त्रिदशाः ! त्रिगुणैर्नित्यं सृष्टिस्थितिलया इमे ।

है ॥ १२१ ॥ यह मेरी सत्त्वादिगुणमयी अलौकिक माया निश्चयही दुस्तरा है, जो मुझको प्राप्त होते है वेही इस मायाको अतिक्रमण कर सकते हैं ॥ १२२ ॥

देवतागण बोले ॥ १२३ ॥

हे गुरो ! हमलोग उस अत्यन्त अद्भुत गुणत्रयके विज्ञानको आपके मुखकमलसे सुनकर कृतकृत्य हुए ॥ १२४ ॥ हे विभो ! अब हम सब आपकी कृपासे रजोगुण तमोगुणमें फंसकर अपनी अवनति नहीं करेंगे ॥ १२५ ॥ हे कृपानिधे ! हमें वह ज्ञान बताइये कि जिस ज्ञानसे हम त्रिगुणके रहस्यको प्रत्यक्ष करनेमें सदाही समर्थ हों और त्रिगुणको विशेषरूपसे निरन्तर देखनेकी शक्ति हमलोगोंमें सदा बनी रहे ॥ १२६–१२७ ॥

महाविष्णु बोले ॥ १२८ ॥

हे देवतागण ! त्रिगुणके द्वारा दृश्य प्रपञ्चके ये सृष्टि स्थिति लय

प्रपञ्चात्मकदृश्यस्य भवन्तीन्यवधार्य्यताम् ॥ १२९ ॥
त्रिभावेनैव ते सर्व्वे ज्ञायन्ते च विशेषतः ।
त्रिभावव्यञ्जिका चाऽस्ति तत्त्वज्ञानोन्नतिः किल ॥ १३० ॥
मयि यत् सच्चिदानन्दरूपेणाऽस्ति दिवौकसः ! ।
मूलमध्यात्मभावस्याधिदैवस्य तथैव च ॥ १३१ ॥
अधिभूतस्य भावस्य ज्ञापकन्तु तदेव हि ।
तटस्थज्ञानसाहाय्यात्रिगुणस्य मतं बुधाः ! ॥ १३२ ।
अविद्याऽऽवरिका ज्ञेया मत्स्वरूपस्य निश्चितम् ।
पुष्टिस्तस्याश्च रजसा तमसैव विजायते ॥ १३३ ॥
सत्त्वात्प्रकाशो विद्याया भवतीति विभाव्यताम् ।
अविद्याऽऽव्रियते लोके यथा तच्छ्रूयतां सुराः ! ॥ १३४ ॥
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ १३५ ॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।

नित्य होते हैं सो जानो ॥ १२९ ॥ और त्रिभावके द्वाराही वे सब विशेषरूपसे जानेजाते हैं और तत्त्वज्ञानकी उन्नतिही त्रिभावव्यञ्जिका है ॥१३०॥ हे देवतागण ! मुझमें जो सत् चित् और आनन्दरूपसे अध्यात्मभाव अधिदैवभाव और अधिभूतभावका मूल विद्यमान है, वही हे विज्ञो ! तटस्थज्ञानकी सहायतासे त्रिगुणका ज्ञापक मानागया है ॥ १३१–१३२ ॥ मेरे स्वरूपज्ञानको आवरण करनेवाली अविद्याको ही जानो । रज और तमोगुणके द्वाराही अविद्याकी पुष्टि होती है ॥१३३॥ सत्त्वगुणके द्वारा विद्याका प्रकाश होता है सो जानो । हे देवतागण ! संसारमें अविद्या जिस प्रकारसे आवरण करती है सो सुनो ॥ १३४ ॥ रजोगुणसम्भूत अत्युग्र और दुष्पूरणीय काम और क्रोध को इस संसारमें शत्रु समझो ॥ १३५ ॥ जिस प्रकार अग्नि धूम्रके द्वारा, शीशा मलके द्वारा और गर्भ जरायुके द्वारा आवृत रहता है

यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ १३६ ॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण भो देवाः ! दुष्पूरेणानलेन च ॥ १३७ ॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ १३८ ॥
यूयं तदिन्द्रियाण्यादौ नियम्य विबुधर्षभाः ! ।
पाप्मानं प्रहतैनं हि ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ १३९ ॥
इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ १४० ॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
हत शत्रुं सुरश्रेष्ठाः ! कामरूपं दुरासदम् ॥ १४१ ॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ १४२ ॥

उसी प्रकार आत्मज्ञान कामके द्वारा आवृत रहता है ॥ १३६ ॥ हे देवतागण ! ज्ञानीके नित्यवैरी इस दुष्पूरणीय कामरूप अग्निके द्वारा ज्ञान आच्छन्न है ॥ १३७ ॥ इन्द्रियां, मन और बुद्धि, इस कामके अधिष्ठान कहे जाते हैं, इन्हींके द्वारा यह ज्ञानको आच्छन्न करके देही-को मोहित किया करता है ॥ १३८ ॥ इस कारण हे देवश्रेष्ठो ! तुम पहिले इन्द्रियोंका संयम करके इस ज्ञानविज्ञाननाशक पापी काम-को नाश करो ॥ १३९ ॥ (देहकी अपेक्षा) इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं इन्द्रियोंकी अपेक्षा मन श्रेष्ठ है, मनकी अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है और जो बुद्धिसे श्रेष्ठ है वही आत्मा है ॥१४०॥ हे देवश्रेष्ठो ! इस प्रकार बुद्धि की अपेक्षा श्रेष्ठ (आत्मा) को जानकर और बुद्धिके द्वारा मनको संयत करके काम-रूप दुर्निवार शत्रुका नाश करो ॥ १४१ ॥ महामायाके द्वारा आवृत होनेके कारण मुझे सब नहीं देख सक्ते हैं । यह मूढ़ संसार मुझे

वेदाहं समतीतानि वर्त्तमानानि चामराः ! ।
भविष्याणि च भूतानि मान्तु वेद न कश्चन ॥ १४३ ॥
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन निर्ज्जराः ! ।
सर्व्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्त्यसुरारयः ! ॥ १४४ ॥
येषान्त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्म्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ़व्रताः ॥ १४५ ॥
जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म्म चाखिलम् ॥ १४६ ॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ १४७ ॥

देवा ऊचुः ॥ १४८ ॥

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म्म परमेश्वर ! ।
अधिभूतञ्च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १४९ ॥

अजन्मा और अविनाशी नहीं जानता है ॥ १४२ ॥ हे देवतागण ! मैं भूत भविष्यत् और वर्त्तमानकालमें स्थित (सकल स्थावर जङ्गमात्मक) भूतोंको जानता हूँ परन्तु मुझको कोई नहीं जानता है॥१४३॥ हे असुरशत्रु देवतागण ! इच्छा और द्वेषसे सम्भूत द्वन्द्वके मोहसे सृष्टिकालमें सब जीव सम्मोहको प्राप्त होते हैं ॥ १४४ ॥ किन्तु जिन पुण्यात्मा व्यक्तियोंका पाप नष्ट होगया है वे द्वन्द्वजनित मोहसे रहित होकर दृढ़व्रत होते हुए मेरी भक्तिमें रत होते हैं ॥ १४५ ॥ जरा और मरणसे बचनेके लिये मेरा आश्रय करके जो प्रयत्न करते हैं वे उस ब्रह्मको, समस्त अध्यात्मको और समस्त कर्म्मको जानते हैं ॥१४६॥ जो मुझको अधिदैव अधिभूत और अधियज्ञके सहित जानते हैं मुझमें आसक्तचित्त वे मरणकालमें भी मुझको जानते हैं ॥ १४७॥

देवतागण बोले ॥ १४८ ॥

हे परमेश्वर ! वह ब्रह्म क्या है, अध्यात्म क्या है, कर्म्म क्या है, अधिभूत किसको कहा गया है, अधिदैव किसको कहते हैं, इस देहमें

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् दैत्यसूदन ! ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ १५० ॥

महाविष्णुरुवाच ॥ १५१ ॥

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म्मसंज्ञितः ॥ १५२ ॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृताम्वराः ! ॥ १५३ ॥
ओंतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ १५४ ॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम ॥ १५५ ॥

अधियज्ञ कौन है और कैसे वह इस देहमें स्थित है और हे दैत्य-सूदन ! आप मरणकालमें संयतात्मा व्यक्तियोंके द्वारा कैसे जानेजाते हैं ॥ १४६–१५० ॥

महाविष्णु बोले ॥ १५१ ॥

परम जो अक्षर (जिसका क्षय नहीं है अर्थात् जगत्का मूल कारण) वही ब्रह्म है, स्वभाव ही (आत्मभावही) अध्यात्म कहा जाता है, भूतभावोद्भवकर अर्थात् सकल प्राणिमात्रकी उत्पत्ति और स्थिति करनेवाला जो विसर्ग अर्थात् त्याग है वही कर्म्म है ॥ १५२ ॥ हे देहधारियोंमें श्रेष्ठो ! नाशवान् भाव (देहादि) अधिभूत हैं पुरुष (स्वांशभूत सब दैवीशक्तियोंका अधिपति) अधिदैव है और इन शरीरोंमें मैं ही अधियज्ञ (कूटस्थ चैतन्य) हूँ ॥ १५३ ॥ ओंतत्सत्, ये तीन ब्रह्मके नाम हैं, इन तीनोंके द्वारा पूर्व्वकालमें ब्राह्मण वेद और यज्ञोंकी सृष्टि हुई थी ॥ १५४ ॥ इसी कारण ओम्, यह शब्द उच्चारण करके ब्रह्मवादियोंके विधानोक्त (शास्त्रोक्त) यज्ञ दान और तपरूप कर्म्म निरन्तर सम्पन्न हुआ करते हैं ॥ १५५ ॥

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥ १५६॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्म्मणि तथा सच्छब्दो युज्यतेऽमराः !॥ १५७॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥ १५८॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतञ्च यत्।
असदित्युच्यते देवाः ! न च तत् प्रेत्य नो इह॥ १५९॥

तत्त्वज्ञानस्य यन्मूलं संक्षेपाच्छृणुतामराः !।
अवश्यमेव विज्ञेयमित्येतावत् सुरर्षभाः !॥ १६०॥

प्रपञ्चमयदृश्येऽस्मिन् नास्ति किञ्चित्त्रिभावतः।
रहितं वस्तु भावो हि कारणं गुणदर्शने॥ १६१॥

मुमुक्षुगण फलाकांक्षा त्याग करके और तत् इस शब्दको उच्चारण करके विविध प्रकारके यज्ञ तप और दान कर्म्म करते हैं ॥१५६॥ हे देवतागण ! सद्भावमें (अस्तित्वमें) और साधुभावमें (साधुत्वमें) सत् इस शब्दका प्रयोग होता है एवं श्रेष्ठ कर्म्ममें भी सत् शब्द प्रयुक्त होता है ॥१५७॥ यज्ञ, तपस्या और दानकर्म्मोंमें लगे रहनेको भी सत् कहा जाता है और तदर्थीय कर्म्मको भी सत्‌ही कहते हैं॥ १५८ ॥ हे देवतागण ! अश्रद्धापूर्वक होम करना, दान करना, तपस्या करना. एवं जो कुछ भी करना, असत् कहाजाता है, वह न परलोकमें और न इहलोकमें फलदायक होता है॥ १५९॥ हे देवगण ! मैं संक्षेपसे तत्त्वज्ञानका मूल कहता हूं सुनो। इतना अवश्यही आपलोगोंको जानना उचित है कि इस प्रपञ्चमय दृश्यमें कोई पदार्थ भी त्रिभावसे रहित नहीं है; क्योंकि भाव ही गुणदर्शनका कारण है

प्रकृतिस्त्रिगुणा या मे प्रथमं त्रीन् गुणान् स्वकान् ।
स्वस्मिन् सम्यक् विलय्यैव तदा सा मयि लीयते ॥ १६२ ॥
आदौ देवाः ! त्रयो भावाः स्थिताः स्वस्वस्वरूपतः ।
पश्चादद्वैतरूपत्वमाश्रयन्तीति सम्मतम् ॥ १६३ ॥
गुणदर्शनहेतुर्हि तस्माद्भावः प्रकीर्त्तितः ।
साधकानां सुराः ! भावो ह्यवलम्बनमन्तिमम् ॥ १६४ ॥
ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ १६५ ॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ १६६ ॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनञ्च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ १६७ ॥

॥ १६०–१६१ ॥ त्रिगुणमयी मेरी प्रकृति पहिले तीनों अपने गुणोंको अपनेमें सम्यक् लय करके ही तब वह मुझमें विलीन होती है ॥ १६२ ॥ हे देवगण ! प्रथम तीनों भाव अपने अपने स्वरूपसे प्रकट रहकर पीछे अद्वैत रूपको आश्रय करते हैं, यह निश्चय है ॥ १६३ ॥ इस कारणसे भाव गुणदर्शनका हेतु कहागया है। हे देवतागण ! साधकोंका अन्तिम अवलम्बन भाव है ॥ १६४ ॥ मेरा ही अंश सनातन अर्थात् मायाके कारण सदा संसारीरूपसे प्रसिद्ध जीव, प्रकृतिमें स्थित मन और पञ्चेन्द्रियोंको जीवलोकमें आकर्षण करता है ॥ १६५ ॥ ईश्वर अर्थात् देही जिस शरीरको प्राप्त होता है और जिस शरीरको परित्याग करता है, जिस प्रकार वायु आशय अर्थात् कुसुमादिसे गन्धयुक्त सूक्ष्मांश ग्रहण करके जाता है उसी प्रकार (प्राप्त शरीरमें पूर्वपरित्यक्त शरीरसे) इन सब इन्द्रियादिकोंको लेकर जाता है ॥१६६॥ यह देही श्रोत्र चक्षु त्वक् रसना और घ्राण इन बाह्येन्द्रियोंपर और अन्तःकरणपर अधिष्ठान करके विषयोंका उपभोग

उत्क्रामन्तं स्थितम्वाऽपि भुञ्जानम्वा गुणान्वितम् ।
विमूढ़ा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १६८ ॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ १६९ ॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १७० ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७१ ॥

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ः
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १७२ ॥

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्व्वविद्भजति मां सर्वभावेन निर्ज्जराः ! ॥१७३॥

करता है ॥ १६७ ॥ एक देहसे देहान्तरमें जानेवाले देहमें स्थित विषयोपभोगकारी और इन्द्रियादिसे युक्त देहीको विमूढ़ व्यक्ति नहीं देखते हैं किन्तु आत्मज्ञानी देखते हैं ॥ १६८ ॥ संयतचित्त योगिगण इस देहीको देहमें अवस्थित देखते हैं और (शास्त्रादि पाठ द्वारा) यत्नशील होनेपर भी आत्मतत्त्वानभिज्ञ मन्दमति इसको देख नहीं सक्ते ॥ १६६ ॥ क्षर और अक्षर नामक ये दो पुरुष लोकमें प्रसिद्ध हैं उनमेंसे सब भूतगण क्षर पुरुष और कूटस्थ चैतन्य अक्षर पुरुष कहाजाता है ॥१७०॥ इन क्षर और अक्षरसे अन्य उत्तम पुरुष परमात्मा कहे गये हैं जो ईश्वर और निर्विकार हैं एवं लोकत्रयमें प्रविष्ट होकर पालन करते हैं ॥ १७१ ॥ क्योंकि मैं क्षरसे अतीत हूँ, और अक्षरकी अपेक्षा भी उत्तम हूँ इसी कारण लोकमें और वेदमें पुरुषोत्तम (कहाजाकर) प्रसिद्ध हूँ ॥१७२॥ हे देवतागण ! इस प्रकार निश्चित बुद्धि होकर जो मुझको पुरुषोत्तम समझता है वह सर्व्वज्ञ

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघाः ! ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च देवताः ! ॥ १७४ ॥

इति श्रीविष्णुगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
देवमहाविष्णुसम्वादे गुणभावविज्ञानयोगवर्णनं
नाम तृतीयोऽध्यायः ।
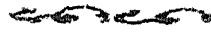
व्यक्ति मुझकोही सर्वभावसे भजता है ॥ १७३ ॥ हे निर्दोष देवता-गण ! यह परमगुह्य शास्त्र मैंने कहा है इसको समझकर साधक सम्यक् ज्ञानी और कृतकृत्य होता है ॥ १७४ ॥

इस प्रकार श्रीविष्णुगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योगशास्त्र-
में देवमहाविष्णुसम्वादात्मक गुणभावविज्ञानयोगवर्णन-
नामक तृतीय अध्याय समाप्त हुआ ।

कर्म्मयोगवर्णनम् ।

देवा ऊचुः ॥ १ ॥

जगद्गुरो ! देवदेव ! करुणावरुणालय ! ।
निर्भयाः स्मो वयं जाता उपदेशेन ते विभो ! ॥ २ ॥
रहस्यं जगतः सृष्टेस्त्रिगुणैर्जनितं तथा ।
सृष्टेर्विभागमेतस्याः यथावज्ज्ञानलब्धये ॥ ३ ॥
ज्ञात्वा भावरहस्यं च कृतकृत्यत्वमागताः ।
अतस्ते कृपया क्वाऽपि पतिष्यामो भये न हि ॥ ४ ॥
स्वासीमकृपयेदानीमस्मानुपदिश प्रभो ! ।
सृष्टेर्निदानं किं देव ! तदुत्पत्तिः किमर्थिका ॥ ५ ॥
तस्याः प्रवर्त्तकः कोऽस्ति मूलनिर्मूलने स्फुटः ।
उपायः कश्च तद्ब्रूहि भवव्याधिनिवृत्तये ॥ ६ ॥

देवतागण बोले ॥ १ ॥

हे देवादिदेव ! हे जगद्गुरो ! हे करुणावरुणालय ! हे विभो ! आपके उपदेश द्वारा हम निर्भय हुए हैं ॥ २ ॥ संसारकी सृष्टिका रहस्य, त्रिगुणजनित सृष्टिका विभाग और उसके यथावत् ज्ञानके प्राप्त करनेके लिये भावका रहस्य समझकर हम कृतकृत्य हुए। अतः आपकी कृपासे हम किसी भी भयमें पतित नहीं होंगे ॥ ३-४ ॥ हे देव ! हे प्रभो ! अब अपनी असीम कृपा द्वारा हमको उपदेश दीजिये कि सृष्टिका मूल कारण क्या है ? क्यों सृष्टि उत्पन्न हुई है ? उस सृष्टिका प्रवर्त्तक कौन है ? और इसके मूलको निर्मूल करनेका स्पष्ट उपाय क्या है ? भवरोगकी निवृत्तिके लिये ये सब कहें ॥ ५-६ ॥

महाविष्णुरुवाच ॥ ७ ॥

सृष्टिप्रवाहो विबुधाः ! मदिच्छातः प्रवर्त्तते ।
आद्यन्तरहितस्तद्वद्विस्तारावधिवर्जितः ॥ ८ ॥
निजानन्दप्रकाशाय साहाय्यात् सच्चितोः स्वयोः ।
स्वीयां शक्तिं महामायां स्वतः प्रकटयाम्यहम् ॥ ९ ॥
सैव शक्तिश्च मे देवाः ! जगतो जननी मता ।
किन्तु सर्व्वस्य जगतः स्थित्युत्पत्तिलयेष्वपि ॥ १० ॥
केवलं कारणं कर्म्म विज्ञेयं सुरसत्तमाः ! ।
जड़चेतनभेदेन मदीया प्रकृतिर्द्विधा ॥ ११ ॥
विद्या तु चेतना ज्ञेया जडाऽविद्या प्रकीर्त्तिता ।
त्रिगुणा सा समाख्याता तत एव च हेतुतः ॥ १२ ॥
कर्म्मोत्पत्तेर्हि सा हेतुर्भवतीत्यवधार्य्यताम् ।
परिणामात्तदुत्पत्तिस्त्रिगुणस्य मता सुराः ! ॥ १३ ॥
जैवैशसहजा भेदाः कर्म्मणस्तस्य कीर्त्तिताः ।

महाविष्णु बोले ॥ ७ ॥

हे देवगण ! अनादि अनन्त और जिसके विस्तारकी अवधि नहीं है ऐसा सृष्टि प्रवाह मेरी इच्छासे प्रवाहित रहता है॥८॥ मैं अपने आनन्दको प्रकाशित करनेकेलिये अपने सत् और चिद्भावकी सहायतासे अपने-मेंसे अपनी शक्ति महामायाको प्रकट करता हूं॥९॥ और हे देवगण ! वही मेरी शक्ति जगत्को प्रसव करती है ; परन्तु सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति स्थिति और लयोंमें भी एकमात्र कारण कर्म्मही है ऐसा जानना चाहिये। जड़ और चेतन भेदसे मेरी प्रकृति दो प्रकारकी है ॥ १०-११॥ चेतनमयी विद्या कहाती है और जड़ा अविद्या कहाती है। वह त्रिगुणमयी है और त्रिगुणमयी होनेसे कर्म्मकी उत्पत्तिका कारण बनजाती है, सो जानो। हे देवगण ! त्रिगुणपरिणामसे ही कर्म्मोंकी उत्पत्ति मानी गई है ॥ १२-१३ ॥ कर्म्मके तीन भेद हैं,

कर्म्मणा सहजेन स्युर्ब्रह्माण्डानां त्रयः सदा ॥ १४ ॥
सृष्टिस्थितिलया एते क्रमशो ह्यमितौजसः ! ।
विशिष्टचेतना जीवाः सम्बद्धा जैवकर्म्मणा ॥ १५ ॥
कर्म्मणैशेन सम्बन्धः पितॄणां भवतां तथा ।
ऋषीणां चावताराणां सर्व्वेषां मे दिवौकसः ! ॥ १६ ॥
कर्म्मणी ऐशसहजे शुद्धे एव सदा मते ।
शुद्धाशुद्धविभेदस्तु जैवकर्म्मसु विद्यते ॥ १७ ॥
उभे एते समाख्याते कारणं पुण्यपापयोः ।
कामनाजनितावेतौ भेदौ हि परिकीर्त्तितौ ॥ १८ ॥
अनाद्यन्तो वासनायाः प्रवाहो ह्येव कारणम् ।
सृष्टेरनाद्यनन्तायाः प्रवाहस्य सुरर्षभाः ! ॥ १९ ॥
वासनानाशमात्रेण कर्म्मणोः सहजैशयोः ।
जैवस्य परिणामः स्याद्दशेयं कर्म्मयोगिनी ॥ २० ॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।

उनको जैव, सहज और ऐश कहते हैं । हे विपुलबलशाली देवगण ! सहज कर्म्म द्वारा ब्रह्माण्डोंके उत्पत्ति स्थिति और लय क्रमसे हुआ करते हैं, जैव कर्म्मके साथ विशिष्टचेतन जीवोंका सम्बन्ध है, और मेरे सब अवतारोंके साथ तथा पितृ ऋषि और आपलोगोंके साथ ऐश कर्म्मका सम्बन्ध है ॥ १४-१६ ॥ ऐश कर्म्म और सहज कर्म्म सदा शुद्धही होते हैं । जैव कर्म्मके दो भेद हैं, एक शुद्ध और एक अशुद्ध ॥ १७ ॥ ये दोनों कर्म्म पुण्य और पापके कारण होते हैं । ये दोनों भेद कामनाजनित कहे गये हैं ॥ १८ ॥ हे देवगण ! अनादि अनन्त वासनाप्रवाह ही अनादि अनन्त सृष्टिप्रवाहका कारण है ॥ १९ ॥ वासनाके नाश होतेही जैवकर्म्म भी सहज कर्म्म और ऐश कर्म्मोंमें परिणत होजाता है । इस दशाको कर्म्मयोग कहते हैं ॥ २० ॥ इस निष्काम कर्म्मयोगमें प्रारम्भकी विफलता

स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ २१ ॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह यज्ञभुग्वराः ! ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ २२ ॥
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरता देवाः ! नान्यदस्तीति वादिनः ॥ २३ ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्म्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्य्यगतिं प्रति ॥ २४ ॥
भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ २५ ॥
यत्र काले ह्यनावृत्तिमावृत्तिश्चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि विबुधर्षभाः ! ॥ २६ ॥

नहीं है, प्रत्यवाय अर्थात् विघ्न भी नहीं है, इस धर्म्मका अल्प आचरण भी महाभयसे रक्षा करता है ॥ २१ ॥ हे यज्ञभाग-भोग करनेवालोंमें श्रेष्ठ देवगण ! इस कर्म्मयोगमें व्यवसायात्मिका अर्थात् निश्चयात्मिका बुद्धि एक होती है किन्तु अव्यवसायी अर्थात् सकाम कर्म्म करनेवालोंकी बुद्धियाँ बहुशाखाओंसे युक्त और अनन्त होती हैं ॥ २२ ॥ हे देवतागण ! वेदके अर्थवादमें तत्पर, "जगत्के अतिरिक्त ईश्वरतत्त्व और कोई नहीं है" इस प्रकार कहनेवाले, कामात्मा और स्वर्गसुखकी इच्छा करनेवाले जो अज्ञानी जीव हैं वे जन्मकर्म्मफलप्रद, भोगैश्वर्यप्राप्तिके साधनभूत और यज्ञादिक्रियाविशेषप्राय पुष्पित वाक्य कहते रहते हैं, उन पुष्पित वाक्योंसे विचलितचित्त और भोगैश्वर्य्यमें आसक्त व्यक्तियोंकी व्यवसायात्मिका बुद्धि समाधिके योग्य नहीं है ॥ २३-२५ ॥ हे देवतागण ! जिस कालमें अर्थात् कालरूप मार्गमें (मरणके पश्चात् जाकर) योगिगण अनावृत्ति (मोक्ष) और आवृत्ति (संसारमें पुनः आगमन) प्राप्त होते हैं उस कालरूप मार्गका वर्णन करता हूं ॥ २६ ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ २७॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते॥ २८॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्त्तते पुनः॥ २९॥

कर्म्मैव कारणं शुक्लकृष्णगत्योर्न संशयः।
स्वर्लोकं निरयम्वाऽपि पितृलोकमथापि वा॥ ३०॥

आसाद्य प्रेतलोकम्वा जीवा यान्ति पुनः पुनः।
मर्त्यलोके जनिं देवाः! कृष्णगत्या न संशयः॥ ३१॥

अग्निर्ज्योति अर्थात् अर्चि (तेज) की सकल अधिष्ठातृदेवताएँ, अहः अर्थात् दिवसाधिष्ठातृदेवता, शुक्लः अर्थात् शुक्लपक्षाधिष्ठातृदेवता, उत्तरायणरूप छः मास अर्थात् उत्तरायणाधिष्ठातृदेवता, इन देवतागणका जो मार्ग है उसमें मृत्युके बाद जानेवाले ब्रह्मवेत्तागण ब्रह्मको प्राप्त होते हैं॥२७॥ कर्म्मयोगी (मरणके पश्चात्) धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन छः मास इन सबके अधिष्ठातृदेवताओंके पास उत्तरोत्तर जाकर क्रमसे चन्द्रलोकको प्राप्त करके भोगावसानमें पुनः वहांसे संसारमें आता है ॥ २८॥ प्रकाशमय अर्चिरादि शुक्ला गति एवं तमोमय धूमादि कृष्णा गति, जगत्के ये दो मार्ग अनादिरूपसे प्रसिद्ध हैं, इन दोनोंमेंसे एकके द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है और दूसरेके द्वारा पुनः संसारमें प्रत्यावृत्ति होती है॥ २९॥ कर्म्मही शुक्ल और कृष्ण दोनों गतिका निःसन्देह कारण है। हे देवगण! जीवोंको स्वर्गलोकप्राप्ति, नरकलोकप्राप्ति, पितृलोकप्राप्ति वा प्रेतलोकप्राप्ति कराके वारंवार मृत्युलोकमें जन्मप्राप्ति कराना कृष्णगतिका कार्य्य है इसमें सन्देह नहीं॥ ३०–३१॥

सत्यलोकन्तु सम्प्राप्य शुक्लगत्या समुन्नतम् ।
तत्र कर्म्मबलेनैव कैवल्यं लभ्यते ध्रुवम् ॥ ३२ ॥
कृष्णगत्यां प्रधानाऽस्ति प्रवृत्तिर्विबुधर्षभाः ! ।
शुक्लगत्यां निवृत्तेस्तु प्राधान्यं परिकीर्त्तितम् ॥ ३३ ॥
आभ्यां भिन्ना गतिश्चान्या गतिभ्यां समुदाहृता ।
सहजाख्या च वो देवाः ! याऽधिकाराद्वहिर्गता ॥ ३४ ॥
मद्भक्ता धर्म्मतत्त्वज्ञा आत्मज्ञानरताश्च ये ।
त एवैतां महात्मानो लभन्ते सहजां गतिम् ॥ ३५ ॥
तत्त्वज्ञानस्य लाभे ये वासनायाः क्षये तथा ।
कर्म्मयोगे रता यान्ति जीवन्मुक्तास्तु तां गतिम् ॥ ३६ ॥
अतीवास्ति सुदुर्ज्ञेया गतिर्देवाः ! हि कर्म्मणः ।
तत्रोदाहरणं ह्येकं विशदं शृणुतामराः ! ॥ ३७ ॥
ग्रन्थीनां बन्धनं कर्म्म ग्रन्थिमोचनमित्यपि ।

शुक्लगतिके द्वारा समुन्नत सत्यलोकमें पहुंचकर कर्म्मके बलसे ही वहां निश्चय मुक्ति प्राप्त कीजाती है ॥ ३२ ॥ हे देवगण ! कृष्ण-गतिमें प्रवृत्ति प्रधान है और शुक्लगतिमें निवृत्ति प्रधान कहीगई है ॥ ३३ ॥ इन दोनों गतियोंके अतिरिक्त एक तीसरी गति और कहीगई है जिसको सहजगति कहते हैं जो सहजगति हे देवतागण ! आपलोगोंके अधिकारसे बाहर है ॥३४॥ जो धर्म्मतत्त्वके जाननेवाले, आत्मज्ञानमें तत्पर, मेरे भक्त महापुरुषगण हैं, वे ही इस तीसरी गतिको प्राप्त होते हैं ॥ ३५ ॥ जो वासनाका नाश, तत्त्वज्ञानलाभ और कर्म्मयोगमें रत हैं, वे जीवन्मुक्तगण इस गतिको प्राप्त करते हैं ॥ ३६ ॥ हे देवतागण ! कर्म्मकी गति अत्यन्तही दुर्ज्ञेय है । हे देवगण ! इसमें एक स्पष्ट उदाहरण सुनो ॥ ३७ ॥ गांठका बांधना भी कर्म्म है और गांठका खोलना भी कर्म्म

तुल्यं कर्म्मद्वयं देवा उदर्के त्वन्तरं महत् ॥ ३८ ॥
मोचनान्मुच्यते वस्तु बन्धनात्तन्नियम्यते ।
तथा सकामनिष्कामौ देवा जानीत कर्म्मणी ॥ ३९ ॥
हैमी लौहमयी वापि शृङ्खला किम्विधापि चेत् ।
प्राणिनां बन्धनायैव कल्पते नात्र संशयः ॥ ४० ॥
तथा सकामकर्माऽपि शुभं वाप्यशुभं भवेत् ।
बध्नाति सुदृढं जीवानिति जानीत निर्ज्जराः ! ॥४१॥
वासनायाः क्षये जाते तत्त्वज्ञानेन सर्वथा ।
कर्त्तव्यबुद्ध्या यत्कर्म्म निष्कामं क्रियतेऽमराः ! ॥ ४२ ॥
कैवल्यकारणं भूत्वा जीवेभ्यस्तद्धि निश्चितम् ।
यस्या न पुनरावृत्तिस्तां दत्ते सहजां गतिम् ॥ ४३ ॥
जीवन्मुक्तोऽथ सम्प्राप्तः सहजां गतिमुत्तमाम् ।
मरुस्थलेऽथवा जह्याच्छरीरं जाह्नवीतटे ॥ ४४ ॥

है, हे देवगण ! दोनों कर्म्म तुल्य हैं किन्तु अन्तिम परिणाममें बड़ा भेद है ॥ ३८ ॥ गांठके बांधनेरूपी कर्म्म द्वारा जैसे पदार्थ बांधा जाता है वैसे गांठके खोलनेरूपी कर्म्म द्वारा पदार्थ खुल जाता है । इसी उदाहरणके अनुसार हे देवगण ! सकाम और निष्काम कर्म्मको जानो ॥ ३९ ॥ लौहनिर्मित अथवा सुवर्णनिर्मित किसी प्रकारकी भी शृंखला हो वह जीवोंको बांधतीही है इसमें सन्देह नहीं ॥ ४० ॥ उसी प्रकार सकाम कर्म्म चाहे शुभ या अशुभ हो वह जीवोंको अच्छी तरह बाँधता ही है, हे देवगण ! सो जानो ॥ ४१ ॥ तत्त्वज्ञानके द्वारा वासनाके सर्वथा नाश होनेपर कर्त्तव्य-बुद्धिके अनुसार जो कर्म्म निष्कामभावसे किया जाता है हे देवगण ! वही निश्चय मुक्तिका कारण होकर जिससे पुनरावृत्ति नहीं होती उस सहजगतिको जीवोंको देता है ॥ ४२–४३ ॥ हे देवगण ! उत्तम सहजगतिको प्राप्त जीवन्मुक्त, चाहे मरुस्थलमें शरीरत्याग करे

अथवा कृतकृत्योऽसौ मुक्तात्मा स्वात्मवित्सुराः ! ।
अन्तिमश्वासपर्य्यन्तं वसेच्चाण्डालवेश्मनि ॥ ४८ ॥
प्राणायामं प्रकुर्वन् वा देहं देवालये त्यजेत् ।
सर्वत्र सर्वदा तस्य मुक्तावस्थाऽवतिष्ठते ॥ ४६ ॥
जलबिन्दुर्यथाऽऽकाशपतितो याति वारिधिम् ।
तथैव स हि मुक्तात्मा लभते मामसंशयम् ॥ ४७ ॥
युष्माभिरपि भो देवाः ! कर्म्मयोगरतात्मभिः ।
कर्त्तव्यबुद्ध्या सततं कार्य्यं कर्म्म विधीयताम् ॥ ४८ ॥
देवाः ! कुरुत कर्म्माणि योगस्थाः सङ्गवर्जिताः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समा भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४९ ॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यध्वं योगः कर्म्म सुकौशलम् ॥ ५० ॥
कर्म्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।

चाहे गंगातीरमें शरीरत्याग करे, चाहे वह कृतकृत्य आत्मज्ञानी मुक्तात्मा चांडालके गृहमें अपने अन्तिम श्वासतक वास करे, चाहे देवमन्दिरमें प्राणायाम करता हुआ देहत्याग करे, उसकी मुक्तदशा सब स्थानोंमें हरसमय बनी रहती है ॥ ४४-४६ ॥ वह मुक्तात्मा आकाशपतित वारिबिन्दुके समुद्रमें पतित होनेके समान मुझको निस्सन्देह प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥ हे देवतागण ! आप कर्म्मयोगमें रत होकर कर्त्तव्य बुद्धिसे सर्वदा कर्त्तव्य कर्म्मको करें ॥ ४८ ॥ हे देवतागण ! इन्द्रियसङ्गको त्याग करके, सिद्धि और असिद्धिमें समभावापन्न होकर और योगमें अवस्थित होकर कर्म करो, समत्वही योग कहाजाता है ॥ ४९ ॥ बुद्धिद्वारा ब्रह्ममें युक्त व्यक्ति इस लोकमें सुकृत दुष्कृत (पुण्य पाप) दोनोंहीको त्याग करता है इस कारण आपलोग कर्म्मयोगमें नियुक्त होवें, सुकौशलपूर्ण कर्म्मही योगपदवाच्य हैं ॥५०॥ बुद्धियुक्त पण्डितगण निश्चयही कर्म्मजनित

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥
आपूर्य्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्व्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ ५२ ॥
विहाय कामान् यः सर्वान् प्राणी चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ५३ ॥
लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघाः ! ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्म्मयोगेन योगिनाम् ॥ ५४ ॥
न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं साधकोऽश्नुते ।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ५५ ॥
न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

फलका त्याग करके जन्मरूप बन्धनसे मुक्त होकर सर्व्वोपद्रवशून्य मोक्षपदको प्राप्त होते हैं ॥ ५१ ॥ जिस प्रकार (नाना नदियोंके द्वारा) आपूर्य्यमाण और अचञ्चल समुद्रमें (अन्य) जलप्रवेश करते हैं अर्थात् उसमें मिलजाते हैं; उसी प्रकार जिसमें सकल कामनाएँ प्रवेश करती हैं अर्थात् लीन होती हैं वह शान्तिको प्राप्त होता है किन्तु भोगकामनाशील व्यक्ति शान्तिको नहीं प्राप्त होता है ॥ ५२ ॥ जो प्राणी सकल काम्यवस्तुओंकी उपेक्षा करके निःस्पृह निरहङ्कार और विषयोंमें ममताशून्य होकर यत्र तत्र भ्रमण करता है वह शान्तिको प्राप्त होता है ॥५३॥ हे निष्पापो ! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मैंने पहले कही है, यथाः– ज्ञानयोग द्वारा सांख्योंकी और कर्म्मयोग द्वारा योगियोंकी ॥ ५४ ॥ कोई साधक कर्म्मका अनुष्ठान न करके नैष्कर्म्य अवस्थाको नहीं पासक्ता है एवं (आसक्तित्यागके विना) केवल सन्न्यास (कर्म्मत्याग) सेही सिद्धिको प्राप्त नहीं होता है ॥ ५५ ॥ किसी भी अवस्था में क्षणमात्र भी कोई कर्म्म न

कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्व्वैः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५६ ॥
कर्म्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ५७ ॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽमराः ! ।
कर्म्मेन्द्रियैः कर्म्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ५८ ॥
नियतं क्रियतां कर्म्म कर्म्म ज्यायो ह्यकर्म्मणः ।
शरीरयात्राऽपि च वो न प्रसिद्ध्येदकर्म्मणाम् ॥ ५९ ॥
यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म्म देवौघाः ! मुक्तसङ्गा विधत्त भोः ! ॥ ६० ॥
यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च साधकः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्य्यं न विद्यते ॥ ६१ ॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाऽकृतेनेह कश्चन ।

करके नहीं ही रह सक्ता है, प्रकृतिजनित (सत्त्वादि) सब गुण ही अवश करके कर्म्म कराते हैं ॥ ५६ ॥ जो व्यक्ति कर्म्मेन्द्रियोंको संयत करके मनमें इन्द्रियोंके सकल विषयोंको स्मरण करता रहता है उस विमूढात्माको कपटाचारी कहते हैं ॥ ५७ ॥ किन्तु हे देवतागण ! जो मन द्वारा इन्द्रियोंको संयत करके कर्म्मेन्द्रियोंसे कर्म्मयोगका अनुष्ठान करता है फलकामनाहीन वह व्यक्ति विशिष्ट है अर्थात् प्रशंसायोग्य है ॥ ५८ ॥ आपलोग अवश्यकर्तव्य कर्म्म करो क्योंकि कर्म्म न करनेसे कर्म्म करना श्रेष्ठ है । कर्म्मोंका त्याग करनेसे आपलोगोंका शरीरयात्रानिर्व्वाह भी नहीं होगा ॥ ५९ ॥ हे देवता-गण ! यज्ञार्थ कर्म्मोंके अतिरिक्त कर्म्म करनेपर इस लोकमें कर्म्म बन्धन होता है अतएव यज्ञके लक्ष्यसे निष्काम होकर कर्म्मोंको करो ॥ ६० ॥ किन्तु जो साधक आत्मामें ही रत है, आत्मामें ही तृप्त है एवं आत्मामें ही सन्तुष्ट रहता है उसके लिये कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है ॥ ६१ ॥ इस लोकमें किये हुए कर्म्मद्वारा उसको पुण्य भी नहीं होता है और न करनेसे कोई पाप भी नहीं होता है एवं सकल

नचास्य सर्व्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ ६२ ॥
तस्मादसक्तैः सततं कार्य्यं कर्म्म विधीयताम्।
असक्ताः कर्म्म कुर्वन्तो लभन्ते पूरुषं परम् ॥ ६३ ॥
कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता साधकाः सुराः !।
लोकसंग्रहमेवापि पश्यन्तः कर्त्तुमर्हथ ॥ ६४ ॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरः खलु ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥ ६५ ॥
देवाः ! मेऽस्ति न कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन !
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्ते एव च कर्म्मणि ॥ ६६ ॥
यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्म्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते प्राणिनः सर्व्वशोऽमराः ! ॥ ६७ ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्य्यां कर्म्म चेदहम् ।

भूतोंमें स्थित ऐहिक या पारत्रिक कोई भी विषय उसके लिये आश्रयणीय नहीं है ॥ ६२ ॥ अतः आपलोग फलासक्तिशून्य होकर सर्व्वदा अवश्यकर्त्तव्य कर्म्मोंका अनुष्ठान करो क्योंकि अनासक्त होकर कर्म्म करनेसे साधक मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥ ६३ ॥ हे देवतागण ! साधकगण कर्म्मके द्वारा ही संसिद्धि अर्थात् ज्ञान प्राप्त हुए हैं। सब लोगोंको अपने अपने धर्म्ममें प्रवर्त्तित करनेके विषयका लक्ष्य रखकर भी कर्म्म करना उचित है ॥६४॥ क्योंकि श्रेष्ठ व्यक्ति जो जो करते हैं अन्यान्य लोग भी वही वही करते हैं, वे जिसको कर्तव्य समझते हैं उसीका अनुवर्तन लोग करते हैं ॥ ६५ ॥ हे देवतागण ! मेरा कर्त्तव्य कुछ नहीं है क्योंकि त्रिलोकीमें मेरे लिये अप्राप्त वा प्राप्तव्य कुछ नहीं है तथापि मैं कर्म्ममें प्रवृत्तही रहता हूँ ॥ ६६ ॥ हे देवतागण ! कभी यदि मैं आलस्यरहित होकर कर्म्मानुष्ठान न करूँ तो निश्चयही जीवधारी मेरे मार्गको सर्व्वतोभावसे अनुसरण करेंगे ॥ ६७ ॥ यदि मैं कर्म्म न करूँ तो ये सब लोग (धर्म्मलोप होनेसे)

सङ्करस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ ६८ ॥
सक्ताः कर्म्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति निर्ज्जराः ! ।
कुर्य्याद्विद्वाँस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ ६९ ॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्म्मसङ्गिनाम् ।
योजयेत् सर्वकर्म्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥ ७० ॥
प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्म्माणि सर्व्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते ॥ ७१ ॥
तत्त्ववित्तु सुपर्वाणः ! गुणकर्म्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्त्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ ७२ ॥
प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्म्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ ७३ ॥

विनष्ट होजायँगे और मैं वर्णसंकरका कर्त्ता हो जाऊँगा, इस प्रकारसे मैं ही इन प्रजाओंके नाश का कारण बनूंगा ॥ ६८ ॥ हे देवतागण ! कर्म्ममें आसक्त अज्ञानीलोग जिस प्रकार कर्म्म करते हैं उसी प्रकार कर्म्ममें अनासक्त ज्ञानीलोग भी लोगोंको स्वधर्म्ममें प्रवर्त्तित करनेके लिये इच्छुक होकर कर्म्म करते हैं ॥ ६९ ॥ कर्म्मासक्त अज्ञलोगोंका बुद्धिभेद नहीं करना चाहिये, प्रत्युतन्तु ब्रह्मज्ञ परिडत व्यक्तिको स्वयं सब कर्म्मोंका अनुष्ठान करके अज्ञलोगोंको कर्म्ममें नियुक्त करना चाहिये ॥ ७० ॥ सब कर्म्म प्रकृतिके गुणों द्वारा सर्व्वतोभावेन निष्पादित होते हैं किन्तु अहङ्कारसे विमूढ-चित्त व्यक्ति "मैं कर्ता हूं" ऐसा समझता है ॥ ७१ ॥ परन्तु हे देवतागण ! गुण और कर्म्मोंके विभागके तत्त्वको जाननेवाला व्यक्ति "इन्द्रियाँ विषयोंमें प्रवृत्त होती हैं" ऐसा समझकर कर्त्तृत्वाभिमान नहीं करता है ॥ ७२ ॥ प्रकृतिके सत्त्वादि त्रिगुणोंसे मोहित होकर जो इन्द्रियोंमें और इन्द्रियोंके कार्य्योंमें आसक्त होते हैं, सर्व्वज्ञ व्यक्ति उन मन्दमति अज्ञलोगोंको विचलित न करे ॥ ७३ ॥

मयि सर्व्वाणि कर्म्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशिषो निर्ममाश्च यतध्वं विगतज्वराः ॥ ७४ ॥
ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति साधकाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्म्मभिः ॥ ७५ ॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्व्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ७६ ॥
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ७७ ॥
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ७८ ॥
श्रेयान् स्वधर्म्मो विगुणः परधर्म्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः परधर्म्मो भयावहः ॥ ७९ ॥

मुझमें सब कर्म्म अर्पण करके आत्मामें चित्तको रखते हुए निष्काम और ममताशून्य होकर शोक त्यागपूर्वक कर्म्म करो ॥ ७४ ॥ जो साधक मेरे इस सिद्धान्तके अनुसार श्रद्धावान् और दोषदृष्टि-विहीन होते हुए कर्म्मोंको नित्य करते रहते हैं वे कर्म्म करनेवाले होनेपर भी कर्म्मोंसे मुक्त रहते हैं ॥ ७५ ॥ किन्तु जो केवल दोष-दर्शन करते हुए मेरे इस सिद्धान्तके अनुसार कर्म्मानुष्ठान नहीं करते हैं उन विवेकहीनोंको सर्व्वज्ञानविमूढ़ और नष्ट जानो ॥ ७६ ॥ ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार कर्म्म करता है और प्राणि-मात्रही अपनी प्रकृतिका अनुसरण करते हैं अतः इन्द्रियोंका निग्रह क्या करेगा? ॥ ७७ ॥ प्रत्येक इन्द्रियका अपने अपने अनुकूल विषयमें अनुराग और प्रतिकूल विषयमें द्वेष अवश्य होता है अत एव इन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये क्योंकि ये दोनों मुमुक्षुके प्रतिपक्षी हैं ॥७८॥ सुचारुरूपसे अनुष्ठित परधर्म्मकी अपेक्षा दोषसहित स्वधर्म्म श्रेष्ठ है, अपने धर्म्ममें स्थित रहते हुए मरना भी अच्छा है किन्तु

न मां कर्म्माणि लिम्पन्ति न मे कर्म्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्म्मभिर्न स बध्यते ॥ ८० ॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म्म पूर्व्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
तस्माद्विधत्त कर्म्मैव पूर्व्वैः पूर्व्वतरं कृतम् ॥ ८१ ॥
किं कर्म्म किमकर्म्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तद्वः कर्म्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यथाशुभात् ॥ ८२ ॥
कर्म्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्म्मणः ।
अकर्म्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्म्मणो गतिः ॥ ८३ ॥
कर्म्मण्यकर्म्म यः पश्येदकर्म्मणि च कर्म्म यः ।
स बुद्धिमान् साधकेषु स युक्तः कृत्स्नकर्म्मकृत् ॥ ८४ ॥
यस्य सर्व्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्ज्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्म्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ ८५ ॥

परधर्म्म भयोत्पादक है ॥ ७९ ॥ "मुझको सकल कर्म्म आसक्त नहीं करसके एवं कर्म्मफलमें मेरी स्पृहा नहीं है" इस प्रकार जो मुझको जानता है वह कर्म्ममें बद्ध नहीं होता है ॥ ८० ॥ इस प्रकार जानकर पूर्व्वकालीन मुमुक्षुओंने भी कर्म्म किया है अतः आपलोग भी पुराकालके मुमुक्षुओं द्वारा पूर्व्वकालमें कृत कर्म्मको ही करो ॥ ८१ ॥ कर्म्म क्या है और अकर्म्म क्या है इस विषयमें विवेकी लोग भी मोहित होते हैं अतएव जिसके जाननेसे आपलोग अशुभ अर्थात् कर्म्मासक्तिसे मुक्त होगे उस कर्म्मको मैं कहता हूँ ॥ ८२ ॥ कर्म्म अर्थात् निष्काम कर्म्मका रहस्य भी जानने योग्य है, विकर्म अर्थात् सकाम कर्म्मका रहस्य भी जानने योग्य है और अकर्म अर्थात् कर्म्माभावका भी रहस्य जानने योग्य है क्योंकि कर्म्मकी गति अतिगहन है ॥ ८३ ॥ जो निष्काम कर्ममें कर्म्माभाव देखता है और कर्म्मरहित अवस्थामें जो कर्म्मका होना देखता है वह साधकोंमें बुद्धिमान् है और वह सब कर्म्म करते रहनेपर भी मुझमें युक्त है ॥ ८४ ॥ जिसके सब कर्म्म कामना और सङ्कल्पसे रहित हैं ज्ञानीलोग

त्यक्त्वा कर्म्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्म्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः ॥ ८६ ॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्व्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म्म कुर्व्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ८७ ॥
यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबद्ध्यते ॥ ८८ ॥
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म्म समग्रं प्रविलीयते ॥ ८९ ॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म्म कुर्व्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ९० ॥
युक्तः कर्म्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।

उस ज्ञानाग्निके द्वारा दग्धकर्म्मा व्यक्तिको पण्डित कहते हैं ॥ ८५ ॥ वह कर्म और कर्म्मफल पर आसक्तिरहित होकर नित्यानन्दमें तृप्त और निरवलम्बन होकर कर्म्ममें प्रवृत्त रहनेपर भी कुछ भी नहीं करता है ॥ ८६ ॥ जो शरीरके द्वारा केवल नाममात्रके लिये कर्म्म करता है वह निष्काम, यतचित्तात्मा और त्यक्तसर्व्वपरिग्रह होनेके कारण पापको प्राप्त नहीं होता है ॥ ८७ ॥ एवं वह यदृच्छालाभमें सन्तुष्ट, द्वन्द्वातीत, शत्रुताशून्य और सिद्धि और असिद्धिमें हर्ष-विषादशून्य होनेके कारण कर्म्म करनेपर भी बद्ध नहीं होता है ॥ ८८ ॥ निष्काम, सर्व्वबन्धनमुक्त, ज्ञानमें अवस्थितचित्त और यज्ञके लक्ष्यसे कर्म्म करनेवाले व्यक्तिके सब कर्म्म विलयको प्राप्त होजाते हैं ॥ ८९ ॥ शरीरद्वारा, मनद्वारा, बुद्धिद्वारा और कर्म्माभिनिवेशशून्य इन्द्रियगणद्वारा योगिगण कर्म्मफलासक्तिको परित्याग करके आत्मशुद्धिके लिये कर्म्म किया करते हैं ॥ ९० ॥ ब्रह्ममें युक्त व्यक्ति कर्म्मफलका त्याग करके कर्म्म करनेपर भी ब्रह्म-निष्ठासे उत्पन्न शान्तिको प्राप्त होता है और अयुक्त व्यक्ति कामना-

अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ ९१ ॥
यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं जानीत तं सुराः ! ।
न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥ ९२ ॥
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म्म कारणमुच्यते ।
योगारूढ़स्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ९३ ॥
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्म्मस्वनुषज्जते ।
सर्व्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ९४ ॥
देवाः ! नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत् कश्चित् क्वापि दुर्गतिमृच्छति ॥ ९५ ॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ९६ ॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ९७ ॥

में प्रवृत्त होनेके कारण कर्म्मफलमें आसक्त होकर बद्ध होता है ॥९१॥ हे देवगण ! जिसको सन्न्यास कहते हैं उसीको योग जानो क्योंकि फलकामनाका त्याग किये विना कोई योगी नहीं हो सक्ता है ॥९२॥ कर्म्मयोगमार्गपर चलनेकी इच्छा करनेवाले योगीके लिये कर्म्म ही कारणरूप (साधनरूप) कहाजाता है; परन्तु कर्मयोगपदपर आरूढ़ व्यक्तिके लिये समाधि ही कारणरूप (साधनरूप) कहीगई है ॥ ९३ ॥ साधक जब इन्द्रियोंके भोग्य विषयोंपर और उनके साधनभूत कर्म्मोंपर आसक्ति नहीं रखता है तब वह सर्व्व-संकल्पत्यागी व्यक्ति योगारूढ़ कहाजाता है ॥ ९४ ॥ हे देवगण ! इस लोकमें वा परलोकमें उसका विनाश नहीं है क्योंकि कोई भी शुभकर्म्मकारी कहीं भी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता है ॥९५॥ योगभ्रष्ट व्यक्ति पुण्यात्माओंके लोकोंको प्राप्त होकर और वहां बहुत वर्षों तक सुखभोग करके पवित्रात्मा श्रीमानोंके घरमें जन्म ग्रहण करता है ॥ ९६ ॥अथवा ज्ञानी योगियोंके वंशमें वह जन्म ग्रहण करता है.

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ विबुधर्षभाः ! ॥ ९८ ॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते ॥ ९९ ॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ १०० ॥
अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ १०१ ॥
यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवेति भो देवाः ! सदा तद्भावभावितः ॥ १०२ ॥
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।

ऐसा जन्म होना जगत्में निश्चय ही दुर्लभनर है ॥ ९७ ॥ हे देव-गण ! वह उक्त दोनों प्रकारके जन्मोंमें ही पूर्व्वजन्ममें उत्पन्न ब्रह्म-विषयक बुद्धि-संयोगको प्राप्त करता है और मोक्षके विषयमें अधिक प्रयत्न करता है ॥ ९८ ॥ पूर्व्वजन्मका अभ्यास ही उसको अवश करके ब्रह्मनिष्ठ बनादेता है क्योंकि योगके स्वरूपको जानने-की इच्छा करनेवाला व्यक्ति भी वेदके शब्दसम्बन्धी स्वरूपको अतिक्रमण करजाता है ॥ ९९ ॥ और प्रयत्नपूर्व्वक साधन करने-वाला योगी पापरहित होकर अनेक जन्मोंमें योगसिद्ध होकर तत्पश्चात् परम गतिको प्राप्त होता है ॥ १०० ॥ शरीरान्तके समय मुझको स्मरण करते करते जो देह त्याग करता है वह मेरे भावको प्राप्त होता है इसमें सन्देह नहीं ॥ १०१ ॥ देहान्तके समय जिस जिस भावका स्मरण करते करते वह योगी देहत्याग करता है, हे देवतागण ! सर्व्वदा उसी उसी भावनामें चित्तके स्थित रहनेके कारण उसी उसी भावको ही प्राप्त होता है ॥ १०२ ॥ मेरी सम्मतिमें योगी तपस्वियोंसे भी श्रेष्ठ है, ज्ञानियोंसे भी श्रेष्ठ है और कर्म्म-

कर्म्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्भवत योगिनः ॥ १०३ ॥
कर्म्मण्येवाधिकारो वो मा फलेषु कदाचन ।
न कर्म्मफलहेतुत्वं न वः सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि ॥ १०४ ॥
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्व्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ १०५ ॥

इति श्रीविष्णुगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे देवमहाविष्णु-
सम्वादे कर्म्मयोगवर्णनं नाम चतुर्थोऽध्यायः ।

निष्ठ व्यक्तियोंसे भी श्रेष्ठ है अत एव आपलोग योगी होवें ॥ १०३ ॥
कर्म करनेमें ही आपलोगोंका अधिकार है, फलेच्छा आपलोगों-
को कभी न हो, न आपलोग कर्मफलकी प्राप्तिके कारण बनना
और न सकाम कर्म्मोंमें आपलोगोंकी प्रवृत्ति होनी चाहिये ॥ १०४ ॥
वेदपाठ करनेसे, यज्ञ करनेसे, तपस्या करनेसे और दान करनेसे जो
पुण्य कहागया है, इस कर्म्मयोगके रहस्यको जानलेनेसे योगी उन
सब पुण्यफलोंको अतिक्रमण करता है और जगत्के मूलभूत
परमपदको प्राप्त करता है ॥ १०५ ॥

इस प्रकार श्रीविष्णुगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योग-
शास्त्रका देवमहाविष्णुसंवादात्मक कर्म्मयोगवर्णन
नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ।

भक्तियोगवर्णनम्

देवा ऊचुः ॥ १ ॥

हृन्मन्दिरविहारिन् ! भो भक्तानां भक्तवत्सल ! ।
भवतः प्राप्तये देवा ऋषयो मानवास्तथा ॥ २ ॥
पितरश्चैव हे नाथ ! सर्व्वे साधनमार्गगाः ।
कीदृशं मार्गमालम्ब्य भवेयुः सफलाशयाः ॥ ३ ॥
कथं विभुर्गुणातीतो भवन्नपि सदा भवान् ।
जीवोपकारकरणे प्रवृत्तो भवति स्वयं ॥ ४ ॥
कस्मात्साधनतो लभ्यं भवत्सान्निध्यमीप्सितम् ।
तत्सर्व्वं कृपया नूनमुपदिश्येमहि प्रभो ! ॥ ५ ॥

महाविष्णुरुवाच ॥ ६ ॥

देवाः ! मम यदा भक्ता मत्स्वरूपस्य तत्त्वतः ।

देवतागण बोले ॥ १ ॥

हे भक्तवत्सल ! हे भक्तमनोमन्दिरविहारी ! हे नाथ ! आपको प्राप्त करनेके लिये साधनमार्गगामी सब ऋषि, देवता, मनुष्य और पितृगण किस प्रकारके पथको अवलम्बन करके सफलकाम होंगे ॥ २-३ ॥ आप विभु और गुणातीत होनेपर भी किस प्रकार जीवोंके उपकारमें सदा स्वयं प्रवृत्त होते हैं ॥ ४ ॥ किस साधनसे अभिलषित आपका सान्निध्य प्राप्त हो सकता है, हे प्रभो ! कृपया अवश्य आप हमलोगोंको इन सब बातोंका उपदेश करें ॥ ५ ॥

महाविष्णु बोले ॥ ६ ॥

हे देवतागण ! मेरे भक्तगण जब मेरे स्वरूपको ठीक ठीक जानलेते हैं, तब वे सब ज्ञानी भक्त पराभक्तिके अधिकारी होते

ज्ञातारः स्युस्तदा सर्व्वे ज्ञानिनस्तेऽधिकारिणः ॥ ७ ॥
पराभक्तेर्भवेयुर्हि मां तदैत्र समीक्षते ।
देशे काले च सर्व्वस्मिन्न पात्रे द्रष्टुं न संशयः ॥ ८ ॥
पराभक्तेः किन्तु यावन्न ते स्युरधिकारिणः ।
तावन्मे सगुणस्यैव रूपस्योपासनां सदा ॥ ९ ॥
कुर्व्वन्तः कृतकृत्यत्वं विन्दन्ति गतकल्मषाः ।
रागात्मिकाया भक्तेर्मे ये भक्ता अधिकारिणः ॥ १० ॥
लीलामयाऽवतारस्य मम ते प्रायशः सुराः ! ।
विविधायां हि लीलायामासक्ता विग्रहस्य मे ॥ ११ ॥
लीलामयस्य चोपास्त्या लभन्ते मां सुनिश्चितम् ।
मम यन्निर्गुणं रूपं सगुणं तद्वदेव हि ॥ १२ ॥
लीलामयं विग्रहश्च सर्व्वमेकमुदीरितम् ।
अधिकारस्य भेदेन भक्ता एव हि केवलं ॥ १३ ॥
तारतम्यं निरीक्षन्त एषु रूपेषु मेऽमराः ! ।
पूर्णांशाऽऽवेशरूपादिरूपैर्हि विविधैः खलु ॥ १४ ॥

हैं और तबही मुझको सब देश काल और पात्रमें देखनेमें समर्थ होते हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ७-८ ॥ परन्तु जबतक भक्त, पराभक्तिके अधिकारी न हों तब तक मेरे सगुण रूपकी ही उपासना करते हुए निष्पाप होकर सदा कृतकृत्यता लाभ करते हैं। हे देवतागण ! मेरी रागात्मिका भक्तिके अधिकारी भक्त प्रायः मेरे लीलामय अवतारोंकी विविध लीलाओंमें आसक्त होकर मेरे लीलामय विग्रहकी उपासना करके मुझको निश्चय प्राप्त करते हैं। मेरे निर्गुण रूप, मेरे सगुण रूप और मेरे लीलामय विग्रह सब एकही हैं। हे देवगण ! केवल अधिकारभेदसे भक्तोंकोही इन मेरे रूपोंमें तारतम्य दिखाईपड़ता है । हे देवतागण ! मैंही पूर्ण, अंश और

अहं हि लोके मायातोऽवतीर्य समये सुराः ! ।
भक्तिं ददामि भक्तेभ्यो येन नन्दन्ति ते सदा ॥ १५ ॥
नैवात्र विस्मयः कार्यः सन्देहो वा कथञ्चन ।
धर्मसंरक्षणं देवाः ! रोचते मे निरन्तरम् ॥ १६ ॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ १७ ॥
यदा यदा हि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति निर्ज्जराः ! ।
अभ्युत्थानमधर्म्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ १८ ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ १९ ॥
जन्म कर्म्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽमराः ! ॥ २० ॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।

आवेश आदि विविध रूपोंसे समयपर जगत्में मायावलम्बनसे अवतीर्ण होकर भक्तोंको भक्ति प्रदान करता हूं जिससे वे सदा आनन्दित रहते हैं ॥ ९–१५ ॥ हे देवतागण ! धर्मकी निरन्तर रक्षा करना मुझको अत्यन्त प्रिय है, इसमें किसी प्रकार कुछ भी सन्देह या विस्मय नहीं करना ॥ १६ ॥ जन्मरहित अविनश्वर और प्राणिमात्रका ईश्वर होकर भी मैं अपनी प्रकृतिपर अधिष्ठान करके अपनी मायाके द्वारा उत्पन्न होता हूं ॥ १७ ॥ हे देवगण ! जब जब धर्म्मपर ग्लानि और अधर्म्मका आधिक्य होता है उसी समय मैं आविर्भूत होता हूँ ॥ १८ ॥ साधुओंकी रक्षाके लिये, दुष्कर्म्मकारियोंके नाशके लिये और धर्म्मके संस्थापनके लिये मैं युग युगमें अवतार धारण करता हूँ ॥ १९ ॥ हे देवगण ! जो मेरे इस प्रकारके अलौकिक जन्म और कर्म्मको यथार्थरूपसे जानता है वह देहत्याग करके फिर जन्म ग्रहण नहीं करता है और मुझको प्राप्त

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ २१ ॥
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते साधकाः सर्वशः सुराः ! ॥ २२ ॥
काङ्क्षन्तः कर्म्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं लोके साधकानां सिद्धिर्भवति कर्म्मजा ॥ २३ ॥
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ २४॥
मम प्राप्त्यै सदा भक्ता आश्रयन्ति दिवौकसः ! ।
भक्तिं भावमयीं योगं क्रियात्मकमपि ध्रुवम् ॥ २५ ॥
वैध्या रागात्मिकाया वै भक्तेराधिगमो मतः ।
वैधी सा साधनाल्लभ्या श्रीगुरोरुपदेशतः ॥ २६ ॥
यदा चित्तलयं कर्त्तुमभ्यासो मयि जायते ।

होता है ॥ २० ॥ अनुराग, भय और क्रोधशून्य एवं मुझमें एकाग्रचित्त, मेरे आश्रित और ज्ञानरूपी तपसे पवित्र अनेक साधक मेरे भावको प्राप्त हुए हैं अर्थात् मुक्त होगये हैं ॥ २१ ॥ जो मुझको जिस भावसे आश्रय करते हैं उनको मैं उसी भावसे आश्रयमें रखता हूं अर्थात् फल प्रदान करता हूँ । हे देवगण ! साधकलोग सब प्रकारसे मेरे मार्गका अनुसरण करते हैं ॥ २२ ॥ कर्म्मकी सिद्धि चाहनेवाले साधक देवताओंकी उपासना करते हैं । इस संसारमें साधकोंको कर्म्मसम्बन्धीय सिद्धि शीघ्र प्राप्त होती है ॥ २३ ॥ परमात्मामें जिनके बुद्धि और चित्त लगे हुए हैं, उन्हींमें जिनकी निष्ठा है और उन्हींमें जो परायण हैं एवं ज्ञानसे जिनके पाप नष्ट होगये हैं वे मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥ हे देवतागण ! मुझको प्राप्त करनेके लिये उपासक सदा भावमयी भक्ति और क्रियामय योगका भी आश्रय अवश्य लेते हैं ॥ २५ ॥ वैधी भक्तिसे ही रागात्मिका भक्तिकी प्राप्ति मानीगई है, वह वैधी भक्ति श्रीगुरूपदेशके अनुसार साधन करनेसे प्राप्त होती है ॥ २६ ॥ जब मुझमें चित्त लीन करने-

रागात्मिकायां भक्तौ हि तदा मज्जति सत्वरम् ॥ २७ ॥
उन्मज्जति मुहुस्तद्वत् भाग्यवान् साधकोत्तमः ।
भक्तिरेषा पराभक्तेर्जननी वर्त्तते सुराः ! ॥ २८ ॥
उपास्तेः प्राणरूपास्ति भक्तिर्हि मामकी सुराः ! ।
क्रियायोगः शरीरं स्याच्चतुर्धा स प्रकीर्तितः ॥ २९ ॥
नाम्ना मन्त्रहठावेतौ लयराजौ तथैव च ।
अधिकारस्य भेदेन विज्ञेयास्ते सुरोत्तमाः ! ॥ ३० ॥
गुरोर्वै कृपयेमानि लभ्यंते साधकैर्ध्रुवम् ।
मत्प्राप्तिसाधनानीति प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ३१ ॥
स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान् चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ ३२ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ ३३ ॥

का अभ्यास होजाता है तब मेरी रागात्मिका भक्तिमें वह भाग्यवान् श्रेष्ठ साधक शीघ्र उन्मज्जन और निमज्जन वारवार करने लगता है। हे देवतागण ! यह भक्ति पराभक्तिको उत्पन्न करनेवाली है ॥ २७– ॥ २८ ॥ हे देवगण ! मेरी भक्ति उपासनाकी प्राणरूपा और क्रिया-योग शरीररूप है । हे देवश्रेष्ठो ! क्रियायोगके भी अधिकारभेदसे चार भेद हैं, वे मन्त्र हठ लय और राज नामसे जानेजाते हैं। ॥ २९–३० ॥ गुरुकृपासे ही मेरी प्राप्तिके इन साधनोंको साधक निश्चय लाभ करते हैं, इस बातको पण्डितगण कहते हैं ॥ ३१ ॥ रूप रसादि बाह्य विषयोंको बाहर ही रखकर दृष्टिको दोनों भ्रुओंके बीच-में रखकर नासिकाके भीतर विचरण करनेवाले प्राण और अपान वायुको समान करके अर्थात् समभावसे चलनेवाला बना करके इन्द्रिय मन और बुद्धिका संयम करनेवाला, मोक्षपरायण और इच्छा भय एवं क्रोधशून्य जो मुनि है वही सदा मुक्त है ॥ ३२–

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्व्वभूतमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्व्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ ३४ ॥
उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ३५ ॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनैवात्मात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ३६ ॥
योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ ३७ ॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।

३३ ॥ मुझको यज्ञों और तपस्याओंका भोक्ता, सकल लोकोंका महान् ईश्वर और सकल प्राणिमात्रका सुहृद् समझकर साधक मोक्षको प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥ आत्माके द्वारा अर्थात् बुद्धिके द्वारा आत्माका अर्थात् मनका उद्धार करना चाहिये, आत्माको अर्थात् मनको नीचे न गिरने दिया जाय क्योंकि मेरी ओर खिंचा हुआ आत्मा अर्थात् मनही अपना अर्थात् साधकका बन्धु है और नीचे-की ओर अर्थात् इन्द्रियादिकमें खिंचा हुआ आत्मा अर्थात् मनही अपना अर्थात् साधकका शत्रु है ॥ ३५ ॥ जिस उपासकने अपनी आत्मा अर्थात् बुद्धिके द्वारा मनको वशीभूत कर लिया है उसीकी आत्मा अर्थात् मन अपना अर्थात् उपासकका बन्धु है; परन्तु अजि-तेन्द्रिय व्यक्तिकी आत्मा अर्थात् बुद्धि ही शत्रुतामें शत्रुवत् प्रवृत्त हुआ करती है ॥ ३६ ॥ योगीको उचित है कि सब समय एकान्तमें अव-स्थित रहकर एकाकी, संयतचित्त, संयतात्मा, इच्छाशून्य और परिग्रह शून्य होकर मनको समाहित करे ॥ ३७ ॥ पवित्र स्थानमें कुशासनके ऊपर मृगचर्म्म और उसके ऊपर रेशमका वस्त्र रखकर न बहुत ऊँचा न बहुत नीचा अपना स्थिर आसन स्थापन करके और उस आसनपर बैठकर मनको एकाग्र करके चित्त और इन्द्रियोंकी

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ३८ ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ ३९ ॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ ४० ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ ४१ ॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ ४२ ॥
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चामराः ! ॥ ४३ ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्म्मसु ।

क्रियाको वशीभूत करते हुए उपासकको चित्तशुद्धिके निमित्त योगाभ्यास करना उचित है ॥३८–३९॥ देहका मध्यभाग मस्तक और ग्रीवादेश सरल और निश्चलभावसे रखकर स्थिर होकर अपनी नासिकाके अग्रभागको अवलोकन करते हुए एवं अन्य ओरका देखना छोड़कर प्रशान्तचित्त भयरहित और ब्रह्मचर्य्यमें अवस्थित होकर मनको दमन करते हुए मुझमें ही चित्त समर्पण करके मत्परायण होते हुए युक्त होकर अवस्थान करना उचित है ॥ ४०–४१ ॥ उक्त रूपसे सदा मनको दमन करनेवाला संयतचित्त योगी निर्वाणमुक्ति देनेवाली एवं मुझमें रहनेवाली शान्तिको प्राप्त करता है ॥ ४२ ॥ परन्तु हे देवतागण ! अधिक भोजन करनेवालेको योगकी प्राप्ति नहीं होती और न निरन्तर उपवास करनेवालेको ही योगकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार बहुत सोनेवालेको भी योगकी प्राप्ति नहीं होती है और न बहुत जागनेवालेको ही योगकी प्राप्ति होती है॥४३॥ जो साधक नियमित आहार और विहार करते हैं और कर्म्मोंको भी

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ ४४ ॥
यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ ४५ ॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ ४६ ॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ ४७ ॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ ४८ ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ ४९ ॥

नियमाधीन होकर करते हैं, नियमके साथ निद्रित होते हैं और नियमके साथ जागते हैं उनका योगाभ्यास दुःखका नाश करनेवाला होता है॥४४॥ जब चित्त विशेषरूपसे संयत होकर आत्मामेंही अवस्थान करता है तब सब प्रकारकी कामनाओंसे निःस्पृह व्यक्ति युक्त कहाता है ॥ ४५ ॥ जैसे वायुरहित स्थानमें दीप विचलित नहीं हुआ करता है, आत्माके उद्देश्यसे योगके अभ्यास करनेवाले संयतात्मा योगीके अचञ्चल चित्तको ऐसाही समझना चाहिये ॥ ४६ ॥ जिस अवस्थामें योगाभ्यास द्वारा संयतचित्त उपरतिको प्राप्त होता है और जिस अवस्थामें आत्मज्ञान द्वारा आत्माको देखते हुए आत्मामेंही उपासक संतुष्ट होजाता है वही योगावस्था है ॥ ४७ ॥ जिस अवस्थाविशेष-में युक्त व्यक्ति उस अनिर्वचनीय अतीन्द्रिय और केवल बुद्धिसे ग्रहण करने योग्य परम सुखका अनुभव करता है और जिस अव-स्थामें स्थित होनेपर ही यथार्थरूपसे वह अविचलित रहता है उसी अवस्थाको योग कहते हैं ॥ ४८ ॥ जिस अवस्थामें अन्य सब अवस्थाओंके लाभको उस अवस्थासे अधिक न समझा जाय और

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगो निर्व्विण्णचेतसा॥ ५० ॥
संकल्पप्रभवान् कामान् त्यक्त्वा सर्व्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥ ५१ ॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ ५२ ॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ ५३ ॥
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ ५४ ॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ ५५ ॥

जिस अवस्थामें रहनेसे महादुःख भी विचलित न करसके उस अवस्थाको योग कहते हैं॥ ४९॥ जिस अवस्थाविशेषमें दुःखका सम्पर्क नहीं रहता है वही अवस्था योगशब्दवाच्य है और निर्विण्ण चित्तसे उसीही योगका अभ्यास करना उचित है॥ ५०॥ सङ्कल्पसे उत्पन्न होनेवाली सब इच्छाओंको निःशेषरूपसे त्याग करके मनके ही द्वारा इन्द्रियगणको सब विषयसमूहसे विशेषरूपसे रोक करके धारणासे वशीभूत की हुई बुद्धि द्वारा मनको आत्मामें निश्चलरूपसे स्थापन करके क्रमशः उपरामको प्राप्त हो और कोई चिन्ता न रक्खे॥५१-५२॥ स्वभावसे चञ्चल और संयम करनेपर भी चलायमान होनेवाला मन जिस जिस विषयमें जावे उस उस विषयसे उसको खींचकर आत्मामेंही स्थिर करना चाहिये॥ ५३॥ क्योंकि उक्त प्रकारसे रजोगुण से रहित प्रशान्तचित्त, निष्पाप और ब्रह्मभावको प्राप्त योगीको परमसुख प्राप्त होता है॥ ५४॥ इस प्रकारसे सदा मनको ब्रह्ममें युक्त करता हुआ निष्पाप योगी अनायास ब्रह्मसंस्पर्शरूपी

सर्व्वभूतस्थमात्मानं सर्व्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्व्वत्र समदर्शनः ॥ ५६ ॥
सर्व्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्व्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥ ५७ ॥
आत्मौपम्येन सर्व्वत्र समं पश्यति योऽमराः ! ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ५८ ॥
असंशयं सुपर्वाणः ! मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु भो देवाः ! वैराग्येण च गृह्यते ॥ ५९ ॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ६० ॥
योगिनामपि सर्व्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ६१ ॥

सर्व्वोत्कृष्ट सुखको प्राप्त कर लेता है ॥ ५५ ॥ योगके द्वारा समाहित-चित्त और सर्वत्र समदर्शन करनेवाला वह योगी आत्माको सर्व्व भूतोंमें अवस्थित देखता है और सर्व्वभूतोंको आत्मामें देखता है ॥५६॥ जो सर्व्वभूतमें अवस्थित मुझको अद्वितीयरूपसे आश्रय करके मेरी उपासना करता है, संसारमें वर्त्तमान रहनेपर भी वह योगी सर्वथा मुझमेंही अवस्थान करता है ॥ ५७ ॥ हे देवगण! जो अपनी उपमासे सब भूतोंको समान देखता हैं और सुखदुःखको समान देखता है वह योगी श्रेष्ठ है, यही मेरी सम्मति है ॥ ५८ ॥ हे देवगण ! मन दुर्निग्रह और चञ्चल है इसमें सन्देह नहीं; किन्तु हे देवगण ! अभ्यास और वैराग्य द्वारा मनका निग्रह कियाजाता है ॥ ५९ ॥ जिसका चित्त संयत नहीं है मेरा मत है कि उसके लिये योग दुष्प्राप्य है; किन्तु गुरूपदिष्ट उपाय द्वारा संयतचित्त व्यक्ति यदि प्रयत्नशील हो तो योगको प्राप्त करसक्ता है ॥ ६० ॥ सब योगियोंमेंसे भी जो श्रद्धावान् व्यक्ति मद्गतचित्तसे मेरी उपासना करता है वह अतिश्रेष्ठ योगी है,

न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ ६२ ॥
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनो ननु ।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च विबुधर्षभाः ! ॥ ६३ ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ ६४ ॥
उदाराः सर्व्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ ६५ ॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
परमात्मा सर्व्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ ६६ ॥
कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्ते किलेतरान् ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ ६७ ॥

यह मेरा मत है ॥ ६१ ॥ पापशील विवेकहीन नराधम व्यक्ति मायाके द्वारा हतज्ञान होकर आसुरीभावको प्राप्त होते हुए मुझको प्राप्त नहीं होते हैं ॥ ६२ ॥ हे देवगण ! आर्त्त जिज्ञासु अर्थार्थी और ज्ञानी, ये चार प्रकारके पुण्यात्मा व्यक्ति मेरी उपासना करते हैं ॥६३॥ इनमेंसे ज्ञानी सर्व्वदा मुझमें निष्ठावान् और एकमात्र मुझमें ही भक्ति रखने-वाला होनेसे श्रेष्ठ है; क्योंकि मैं ज्ञानी भक्तका अतिप्रिय हूं और वह भी मेरा प्रिय है ॥ ६४ ॥ ये सब ही महान् हैं परन्तु ज्ञानी मेरा ही स्वरूप है, यह मेरा मत है; क्योंकि वह ज्ञानी भक्त मुझमें एक-चित्त होकर सर्व्वोत्तम गतिस्वरूप मुझकोही आश्रय करता है ॥६५॥ बहुत जन्म ग्रहण करनेके बाद ज्ञानवान् व्यक्ति "यह चराचर विश्व ही परमात्मस्वरूप है" ऐसा अनुभव करके मुझको प्राप्त होता है, ऐसा महात्मा जगत्में दुर्लभ है ॥ ६६ ॥ सांसारिक अनेक प्रकारकी कामनाओंसे हतज्ञान व्यक्ति अनेक प्रकारके नियमोंका अवलम्बन करके अपनी प्रकृतिको नियमित करते हुए ही औरोंकी (देवतादिकी)

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ ६८ ॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हितान् ॥ ६९ ॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
अन्यानन्ययजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ ७० ॥
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ ७१ ॥
तस्मात् सर्व्वेषु कालेषु मामनुस्मरतामराः ! ।
मय्यर्पितमतिस्वान्ता मामसंशयमेष्यथ ॥ ७२ ॥
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पूरुषं दिव्यं भक्तो यात्यनुचिन्तयन् ॥ ७३ ॥

उपासना करते रहते हैं ॥ ६७ ॥ जो जो भक्त जिस जिस मूर्तिकी श्रद्धापूर्व्वक उपासना करनेकी इच्छा करता है, मैं उस उस भक्तकी उस उस मूर्त्तिमें वैसीही दृढ़श्रद्धा विधान करता हूँ ॥ ६८ ॥ वह भक्त उस श्रद्धासे युक्त होकर उस मूर्त्तिकी आराधना करता है और तदनन्तर मेरेही द्वारा सम्पादित हितकारी उन सकल कामनाओंको लाभ करता है ॥ ६६ ॥ परन्तु उन क्षुद्रबुद्धि व्यक्तियोंका वह फल विनाशशील है क्योंकि औरोंकी उपासना करनेवाले अन्य लोकोंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझको प्राप्त होते हैं ॥ ७० ॥ अल्पबुद्धि व्यक्ति मेरे नित्य सर्व्वोत्तम और परमस्वरूपको न जानकर, मैं अव्यक्त अर्थात् मायातीत हूं तौभी मुझको व्यक्तिभावको प्राप्त समझते हैं॥७१॥ इस कारण हे देवतागण ! सर्व्वदा मुझको स्मरण करो, मुझमें मन और बुद्धिको अर्पण करनेपर निःसन्देह आपलोग मुझको प्राप्त होगे ॥ ७२ ॥ अभ्यासयोग द्वारा एकाग्र और अनन्यगामी चित्तसे चिन्ता करते करते साधक दिव्य परमपुरुषको प्राप्त होता है

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्व्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ७४ ॥
प्रयाणकाले मनसाऽचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ ७५ ॥
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति
तद्वः पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ७६ ॥
सर्व्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्द्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणम् ॥ ७७ ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।

॥ ७३ ॥ कवि (सर्व्वज्ञ) पुराण (अनादि) अनुशासिता (नियन्ता) सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतम, सबका पालन करनेवाला, अचिन्त्यरूप, प्रकृतिसे परे स्थित, सूर्य्यके समान वर्णवाले पुरुषका, शरीरत्यागके समय भक्तियुक्त होकर स्थिर चित्तसे योगबलद्वारा भ्रूयुगलके मध्यमें प्राणवायुको भलीभांति स्थिर करके जो ध्यान करता है वह उस दिव्य परमात्मस्वरूप पुरुषको प्राप्त होता है ॥ ७४-७५ ॥ ब्रह्मज्ञगण जिसको अक्षर कहते हैं, वीतराग यतिगण जिसमें प्रवेश करते हैं और जिसको जाननेकी इच्छा करके साधक ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण करते हैं मैं आपलोगोंको वह पद संक्षेपसे कहता हूँ ॥ ७६ ॥ सब इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे प्रत्याहरण करके मनको हृदयमें स्थिर करके और मूर्द्धा अर्थात् सहस्रारमें अपने प्राणको रखकर योगधारणामें स्थिर होता हुआ और ॐ इस एकाक्षर ब्रह्मस्वरूप मन्त्रको उच्चारण

यः प्रयाति सजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥ ७८ ॥
अनन्यचेताः सततं यो मां स्मराति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभो देवाः ! नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ ७९ ॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ ८० ॥
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽमराः ! ।
मामुपेत्य तु गीर्वाणाः ! पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ८१ ॥
अवजानान्ति मां मूढ़ाः सगुणां तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ८२ ॥
मोघाशा मोघकर्म्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीञ्चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ ८३ ॥
महात्मानस्तु मां देवाः ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।

करता हुआ मुझको स्मरण करके स्थूल देहको त्याग करके जाता है वह परमगतिरूपी मुक्तिपदको प्राप्त करता है ॥ ७७–७८ ॥ अनन्यचित्त होकर जो मेरा सब समय नियमितरूपसे चिन्तन करता है हे देवतागण ! नित्ययुक्त उस योगीके लिये मैं सुलभ हूँ ॥ ७९ ॥ महात्मागण मुझको प्राप्त करके पुनः त्रितापके आलयरूप अनित्य जन्मको प्राप्त नहीं होते क्योंकि वे परासिद्धिरूपी मोक्षको प्राप्त हुए हैं ॥ ८० ॥ हे अमरगण ! ब्रह्मलोकसे भी आकर सबलोग पुनः पुनः जन्म ग्रहण करते हैं परन्तु हे देवतागण ! मुझको प्राप्त करके पुनर्जन्मकी प्राप्ति नहीं होती है ॥ ८१ ॥ बुद्धिभ्रंशकारी आसुरी और राक्षसी प्रकृतिको धारण करनेवाले, विफलाशाकारी, विफलकर्म्मा, अध्यात्मज्ञानरहित, विषयसे चञ्चलचित्त मूर्ख व्यक्तिगण सर्व्वभूतोंके महेश्वररूपी मेरे परमभावको न जानकर मुझको सगुण देहधारी देखकर अवज्ञा करते हैं ॥ ८२–८३ ॥ परन्तु हे देवतागण ! दैवीप्रकृतियुक्त महात्मागण अनन्यचित्त होकर मुझको

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ ८४ ॥
सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ ८५ ॥
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ ८६ ॥
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्य्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ ८७ ॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ ८८ ॥
समोऽहं सर्व्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ ८९ ॥
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।

जगत्कारण और नित्यस्वरूप जानकर मेरी उपासना किया करते हैं ॥ ८४ ॥ उनमेंसे कोई कोई सर्व्वदा मेरा कीर्त्तन करते हैं, कोई कोई दृढ़नियमसे युक्त होकर प्रयत्नशील होते हैं, कोई कोई भक्तिके साथ प्रणाम करते हैं और कोई कोई नित्ययुक्त होकर मेरी उपासना करते हैं ॥ ८५ ॥ अन्य कोई कोई ज्ञानयज्ञ द्वारा भी पूजा करके मेरी उपासना करते हैं, उनमेंसे कोई कोई अभेदभावसे, कोई कोई दासभावसे और कोई कोई मुझे सर्व्वात्मक जानकर नाना प्रकारसे उपासना करते हैं ॥ ८६ ॥ अन्य देवताओंकी उपासना न करके मुझे ही स्मरण करते हुए जो उपासना करते हैं, उन नित्य मत्परायण भक्तोंका योगक्षेम (समाधिविघ्नोंकी निवृत्ति अर्थात् सब आवश्यकीय विषयोंको) को मैं वहन करता हूँ ॥ ८७ ॥ जो मुझको भक्तिपूर्व्वक पत्र पुष्प फल और जल अर्पण करता है मैं उस संयतात्मा द्वारा भक्ति पूर्व्वक अर्पित वे पत्र पुष्पादि ग्रहण करता हूँ ॥ ८८ ॥ मैं सकल भूतोंमें समानरूपसे अवस्थित हूं अतः मेरा प्रिय और द्वेष्य कोई नहीं है किन्तु जो मेरी भक्तिपूर्वक उपासना करते हैं वे मुझमें स्थित हैं

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ९० ॥
क्षिप्रं भवति धर्म्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
हे देवाः ! खलु जानीत न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ९१ ॥
मां हि देवाः ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ९२ ॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकं भजध्वमिममेत्य माम् ॥ ९३ ॥
मन्मनस्काः स्त मे भक्ता याजिनो नमताऽमराः ! ।
मामेवैष्यथ युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणाः ॥ ९४ ॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९५ ॥

और मैं भी उनमें स्थित हूं ॥ ८९ ॥ यदि अत्यन्त दुराचारी व्यक्ति भी अनन्य-भक्तियुक्त होकर मेरी उपासना करे तो उसको भी साधुही मानना चाहिये क्योंकि वह उत्तम यत्न कर रहा है ॥ ९० ॥ अत्यन्त दुराचारी व्यक्ति भी मेरी उपासना करनेपर शीघ्र धर्म्मात्मा होजाता है और निरन्तर शान्तिको प्राप्त करता है हे देवगण ! मेरा भक्त नाशको नहीं प्राप्त होता है, यह तुम निश्चय जानो ॥ ९१ ॥ क्योंकि हे देवगण ! पापयोनिसम्भूत स्त्रियां वैश्य और शूद्र ये कोई भी हों मेरा आश्रय लेकर परम गतिको प्राप्त होते हैं ॥ ९२ ॥ सुकृतिशाली ब्राह्मण और भक्तिमान् राजर्षिगणकी तो बातही क्या है अतः तुम इस कष्टप्रद और अनित्य लोकको प्राप्त होकर मेरी उपासना करो ॥ ९३ ॥ हे देवगण ! आपलोग मद्गतचित्त, मेरे भक्त और मेरे उपासक हों और मुझे नमस्कार करो, इस प्रकार मत्परायण होकर मनको मुझमें ही युक्त करनेसे मुझहीको प्राप्त होगे ॥ ९४ ॥ जिनका चित्त केवल मुझहीमें रत है और जिनका प्राण केवल मेरे-मेंही अर्पित है, ऐसे व्यक्ति परस्पर मेरे स्वरूपका ज्ञान कराते हुए एवं सदा मेरा कीर्त्तन करते हुए सन्तोष और शान्तिको प्राप्त होते

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ ९६ ॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ९७ ॥
मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ ९८ ॥
ये त्वक्षरमनिर्द्देश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते ।
सर्व्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ९९ ॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्व्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्व्वभूतहिते रताः ॥ १०० ॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं प्राणभृद्भिरवाप्यते ॥ १०१ ॥
ये तु सर्व्वाणि कर्म्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः ।

हैं ॥ ९५ ॥ सदा मुझमें अर्पित चित्त एवं प्रीतिपूर्वक मेरी उपासना करनेवाले उन भक्तोंको मैं उस बुद्धियोग (ज्ञान को प्रदान करता हूँ जिससे वे मुझको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ९६ ॥ उनके हितके अर्थही मैं उनकी बुद्धिवृत्तिमें अवस्थित होकर प्रकाशमान तत्त्वज्ञानरूप दीप द्वारा उनके अज्ञानान्धकारको नाश करता हूँ ॥ ९७ ॥ मुझमें मनको एकाग्र करके, सर्व्वदा मुझमें युक्त रहकर एवं परमश्रद्धान्वित होकर जो मेरी उपासना करते हैं वे मेरी सम्मतिमें युक्ततम अर्थात् प्रधान योगी हैं ॥९८॥ किन्तु सर्व्वत्र समबुद्धियुक्त जो व्यक्ति इन्द्रियोंको अच्छी तरहसे संयत करके अनिर्वचनीय, रूपादिविहीन, सर्व्वव्यापी, अचिन्त्य, स्थिर, नित्य, अविनाशी कूटस्थकी उपासना करते हैं, सकलभूतोंके हितकारी वे व्यक्ति मुझेही प्राप्त होते हैं ॥९९–१००॥ अव्यक्तमें जिनका चित्त आसक्त हुआ है उनको अधिकतर परिश्रम होता है क्योंकि मेरे अव्यक्तरूपमें निष्ठा प्राणियोंको कठिनतासे प्राप्त

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ १०२ ॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरादेवाः! मय्यावेशितचेतसाम् ॥ १०३ ॥
मय्येव मन आधद्ध्वं मयि बुद्धिर्निवेश्यताम् ।
निवसिष्यथ मय्येव अत ऊर्द्ध्वं न संशयः ॥ १०४ ॥
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नुथ मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन तत इच्छताप्तुं सुराः! हि माम् ॥ १०५ ॥
अभ्यासेऽप्यसमर्थैर्मे भूयतां कर्म्मतत्परैः ।
मदर्थमपि कर्म्माणि कुर्वाद्भिः सिद्धिरेष्यते ॥ १०६ ॥
अथैतदप्यशक्ताः स्थ कर्त्तुं मद्योगमाश्रिताः ।
सर्व्वकर्म्मफलत्यागं यतात्मानो विधत्त वै ॥ १०७ ॥
अद्वेष्टा सर्व्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १०८ ॥

होती है ॥१०१॥ किन्तु जो एकान्तभक्तियोग द्वारा सब कर्म्म मुझमें अर्पण करके मत्परायण होकर मेरा ध्यान करते हुए उपासना करते हैं हे देवगण! मैं मृत्युयुक्त संसारसमुद्रसे मुझमें निवेशित चित्त उन भक्तों का शीघ्र उद्धार करता हूँ ॥१०२-१०३॥ मुझमेंही मन स्थिर करो और मुझमेंही बुद्धिसंनिवेश करो तो इससे आगे मुझमेंही निवास करोगे इसमें सन्देह नहीं॥१०४॥ हे देवगण! यदि मुझमें चित्तको स्थिर न रख सको तो अभ्यासयोग द्वारा मुझे प्राप्त करनेकी इच्छा करो ॥ १०५ ॥ यदि अभ्यास करनेमें भी असमर्थ हो तो मेरे कर्म्मोंमें निरत हो, केवल मेरे लिये ही सब कर्म्मोंको करते हुए भी सिद्धिको प्राप्त होगे॥१०६॥ यदि इसके करनेमें भी असमर्थ हो तो एकमात्र मेरे शरणागत और संयतचित्त होकर सब कर्म्मोंके फलोंका त्याग करो ॥ १०७ ॥ सर्व्व भूतोंका अद्वेष्टा, मित्र और कृपालु, ममताहीन, निरहङ्कार, सुखदुःखमें समता समझनेवाला, क्षमावान्, सदा सन्तुष्ट, संयतचित्त योगी मेरी

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १०९ ॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ ११० ॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्व्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १११ ॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥ ११२ ॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ ११३ ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो हि सः ॥ ११४ ॥

ओर स्थिर लक्ष्य रखनेवाला, और मुझमें मन और बुद्धिको समर्पण करनेवाला जो मेरा भक्त है वह मेरा प्रिय है ॥ १०८–१०९ ॥ जिसके द्वारा संसार उद्विग्न नहीं होता है, जो संसारसे उद्विग्न नहीं होता है और जो हर्ष अमर्ष (अन्यको लाभ होनेसे कातर होना) भय और चित्तक्षोभसे रहित है वह मेरा प्रिय है ॥ ११० ॥ सकल विषयोंमें निःस्पृह, शुचि, चतुर, उदासीन, जिसको व्यथा नहीं होती, और सब सङ्कल्पोंका त्याग करनेवाला जो मेरा भक्त है वह मेरा प्रिय है ॥१११॥ जो प्रसन्न नहीं होता है, द्वेष नहीं करता है, शोक नहीं करता है, आकाङ्क्षा नहीं करता है, पाप पुण्योंका परित्याग करनेवाला है और मुझमें भक्तिमान् है वह मेरा प्रिय है ॥ ११२ ॥ जो शत्रु और मित्रमें एवं मान और अपमानमें एकरूप रहता है, शीत उष्ण और सुखदुःखोंमें विकारहीन है, निःसंग है, निन्दा और प्रशंसामें समभावापन्न है, मौनी (मनको दमन करनेवाला) है, जो कुछ मिलजाय उससे सन्तुष्ट है, वासस्थानहीन है, स्थिरचित्त है और भक्तिमान् है वह मेरा प्रिय

ये तु धर्म्मामृतमिदं यथोक्तं पर्य्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ ११५ ॥

इति श्रीविष्णुगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे देव-
महाविष्णुसम्वादे भक्तियोगवर्णनं नाम पञ्चमोऽध्यायः ।

है ॥११३-११४॥ जो लोग इस उक्त अमृतरूप धर्म्मका अनुष्ठान करते
हैं वे श्रद्धाशील मत्परायण भक्तगण मेरे अतिप्रिय हैं ॥ ११५ ॥

इस प्रकार श्रीविष्णुगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी देव-
महाविष्णुसम्वादात्मक योगशास्त्रका भक्तियोगवर्णन-
नामक पंचम अध्याय समाप्त हुआ ।

ज्ञानयोगवर्णनम् ।

देवा ऊचुः ॥ १ ॥

निशम्य नितरां नाथ ! पराराध्य ! जगद्गुरो ! ।
रहस्यं भक्तियोगस्योपासनायास्तथाद्भुतम् ॥ २ ॥
कृतार्थाः स्मो वयं सम्यक् करुणावरुणालय ! ।
भूयोऽपि श्रोतुमिच्छामस्त्वत्तो ज्ञानमयीं गिरम् ॥ ३ ॥
श्रूयते हि जगन्नाथ ! ज्ञानमेवास्ति कारणम् ।
मुक्तेरतो दयासिन्धो ! सादरं प्रार्थयामहे ॥ ४ ॥
गूढं ज्ञानस्वरूपं यद्रहस्यञ्चापि दुर्गमम् ।
वैदिकज्ञानकाण्डस्य ज्ञानाज्ञानविनिर्णयम् ॥ ५ ॥
ज्ञानिनां लक्षणञ्चैव प्रतिपाद्य प्रभोऽधुना ।
आत्मज्ञानोपदेशेन चित्ते शान्तिं विधत्स्व नः ॥ ६ ॥

देवतागण बोले ॥ १ ॥

हे परराध्य जगद्गुरो ! हे करुणावरुणालय नाथ ! भक्तियोग और उपासनाका अद्भुत रहस्य अविच्छिन्नरूपसे सुनकर हमलोग अच्छीतरह कृतकृत्य हुए । हम फिरभी ज्ञानवार्त्ताको आपसे सुनना चाहते हैं ॥ २-३ ॥ हेजगन्नाथ ! हमने सुना है कि ज्ञानही मुक्तिका कारण है, इस कारण हे दयासिन्धो ! हम सविनय प्रार्थना करते हैं कि ज्ञानका गूढ़ स्वरूप, वेदके ज्ञानकाण्डका दुर्गम रहस्य, ज्ञान और अज्ञानका लक्षण और ज्ञानीका लक्षण भी कहकर तथा हे प्रभो ! आत्मज्ञानका उपदेश देकर हमारे चित्तमें अब शान्तिप्रदान करिये ॥ ४-६ ॥

महाविष्णुरुवाच ॥ ७ ॥

तटस्थश्च स्वरूपश्च द्विविधं ज्ञानमीरितम् ।
ज्ञानं यद्धि स्वरूपाख्यं स्वरूपं तन्ममैव वै ॥ ८ ॥
पराभक्तिप्रवीणेन समाधौ निर्विकल्पके ।
ज्ञानिना शान्तचित्तेन यद्भक्तेनानुभूयते ॥ ९ ॥
ज्ञानं तद्धि स्वरूपाख्यं सच्चिदानन्दरूपकम् ।
देवाः ! जानीत तन्नूनमवाङ्मनसगोचरम् ॥ १० ॥
द्वारीकृत्य तटस्थाख्यं ज्ञानमेव तु केवलम् ।
जिज्ञासुर्लभते नूनं योगयुञ्जानमानसः ॥ ११ ॥
आत्मानात्मविवेकं हि कुर्वाणो मामसंशयम् ।
तटस्थाख्यं हि यज्ज्ञानं तत्र यद्यपि वर्त्तते ॥ १२ ॥
ज्ञातुर्ज्ञानस्य सम्बन्धो ज्ञेयस्यापि दिवौकसः ! ।
तत्तथापि समाख्यातं स्वरूपज्ञानकारणम् ॥ १३ ॥
ज्ञानस्यास्य तटस्थस्य तिस्रो भूम्यः प्रकीर्त्तिताः ।
आद्यायां भूमिकायान्तु तत्त्वज्ञानी दिवौकसः ! ॥ १४ ॥

महाविष्णु बोले ॥ ७ ॥

ज्ञान दो प्रकारका कहागया है, स्वरूपज्ञान और तटस्थज्ञान । स्वरूपज्ञान मेराही स्वरूप है ॥ ८ ॥ जो निर्विकल्पसमाधिमें पराभक्तिमें प्रवीण, शान्तचित्त ज्ञानी भक्तके अनुभवमें आता है ॥९॥ वह स्वरूपज्ञान सच्चिदानन्दमय है। हे देवगण! उसको अवश्य मन वचनसे अतीत जानो ॥ १० ॥ केवल तटस्थज्ञानके द्वाराही योगाभ्यासनिरत जिज्ञासु आत्मा और अनात्माका विचार करता हुआ ही निःसन्देह मुझको प्राप्त होता है । हे देवगण ! तटस्थज्ञान, ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयरूपी त्रिपुटिसे युक्त होनेपरभी स्वरूपज्ञान-प्राप्तिका कारण कहागया है ॥ ११-१३ ॥ इस तटस्थज्ञानकी तीन भूमिकाएँ कहीगई हैं। हे देवगण ! प्रथम भूमिकामें तत्त्वज्ञानी जगत् और जगत्कर्त्ताका आनु-

जगतश्च जगत्कर्तुर्ज्ञानं लब्ध्वानुमानिकम् ।
ज्ञानभूम्यां विशालायां सरत्यग्रे न संशयः ॥ १५ ॥
अत्रैव ज्ञानभूमौ हि योगी भोगपराङ्मुखः ।
वैराग्यं विषयान्नूनं लभते च विषोपमात् ॥ १६ ॥
योगी भूमौ द्वितीयायां क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोस्तथा ।
सम्यग्ज्ञानमवाप्नोति नास्त्यत्र प्रच्युतेर्भयम् ॥ १७ ॥
भूमिकायां तृतीयायां योगी योगसमुन्नतः ।
मदीयाद्वैतसत्तां हि ज्ञानेनानुभवन् किल ॥ १८ ॥
मत्स्वरूपाग्रगो देवाः ! भवन् विगतकिल्विषः ।
भूत्वा योगपदारूढो लभते कृतकृत्यताम् ॥ १९ ॥
एतदेव फलं भूमेस्तृतीयाया दिवौकसः ! ।
अन्तिमं हि विनिर्दिष्टं तत्त्वज्ञानविशारदैः ॥ २० ॥
द्विधा मत्प्रकृतिर्भिन्ना विद्ययाऽविद्यया तथा ।
अविद्या कारणं सृष्टेर्बन्धनस्यापि जायते ॥ २१ ॥

मानिक ज्ञान प्राप्त करके विशाल ज्ञानभूमिमें निःसन्देह अग्रसर होताहै ॥ १४-१५ ॥ इसी ज्ञानभूमिमें योगी भोगपराङ्मुख होकर विषतुल्य विषयोंसे वैराग्यको भी निःसन्देह ही प्राप्त होता है ॥१६॥ दूसरी भूमिमें योगी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका सम्यक् ज्ञान प्राप्त करता है, और इस भूमिमें योगीकेलिये पतनका भय नहीं है ॥ १७ ॥ हे देवगण ! तीसरी भूमिमें योगसमुन्नत योगी मेरी अद्वैतसत्ताका ज्ञानके द्वारा ही अनुभव करता हुआ निष्पाप होकर मेरे स्वस्वरूपकी ओर अग्रसर होता हुआ योगारूढ़ होकर कृतकृत्यताको प्राप्त करता है ॥ १८-१९ ॥ हे देवगण ! इस तीसरी भूमि का यही अन्तिम फल तत्त्वज्ञानविशारदोंने कहा है ॥ २० ॥ मेरी प्रकृतिके दो भेद हैं, विद्या और अविद्या। अविद्या सृष्टि और बन्धनका कारण

साहाय्येन तु विद्याया योगी मुक्तोऽथ बन्धनात् ।
देवाः ! सृष्टेर्लयं कुर्वन् क्षिप्रं मामेति निश्चितम् ॥ २२ ॥
अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्य्योपासनं शौचं स्थैर्य्यमात्मविनिग्रहः ॥ २३ ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ २४ ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यञ्च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ २५ ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ २६ ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ २७ ॥
निश्चितं वच्मि वो देवाः ! श्रीगुरोर्दयया विना ।

होती है॥२१॥और विद्याकी सहायतासे योगी बन्धनसे मुक्त होकर हे देवगण ! सृष्टिका विलय करता हुआ शीघ्र मुझको ही प्राप्त होता है ॥ २२ ॥ आत्मश्लाघाराहित्य, दम्भहीनता, परपीड़ात्याग, सहिष्णुता, सरलता, गुरुसेवा, अन्तःशुचिता और बहिःशुचिता, स्थिरता, मनः-संयम, विषयोंमें वैराग्य, अहङ्काररराहित्य, जन्म मृत्यु जरा और व्याधिमें दुःख और दोषका अनुदर्शन अर्थात् स्पष्ट उपलब्धि, पुत्र स्त्री गृह आदिमें अनासक्ति और उनके सुख दुःखमें सुखी दुःखी न होना, इष्ट और अनिष्टकी प्राप्ति होनेपर सर्व्वदा चित्तकी समानता, मुझमें अनन्य योग (सर्व्वत्र समदृष्टि) द्वारा अव्यभिचारिणी (अनन्य) भक्ति, निर्जन स्थानमें रहना, लोकसमाजमें वैराग्य, आत्मज्ञानपरायणता और तत्त्वज्ञानके फल (मोक्ष) का दर्शन, ये ज्ञानके लक्षण कहे जाते हैं इनसे विपरीत जो लक्षण हैं वेही अज्ञानके लक्षण हैं ॥ २३-२७ ॥ हे देवतागण ! मैं आपलोगोंको निश्चय करके

किञ्चित् कदापि कुत्रापि कथञ्चिन्नैव लभ्यते ॥ २८ ॥
आत्मज्ञानोपलब्धौ हि हेतुरस्ति गुरोः कृपा ।
आत्मज्ञानन्तु मत्प्राप्तौ कारणं नात्र संशयः ॥ २९ ॥
तद्विद्ध प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति वो ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३० ॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यथ निर्ज्जराः ! ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यथात्मन्यथो मयि ॥ ३१ ॥
अपि स्थ यदि पापेभ्यः सर्व्वेभ्यः पापकृत्तमाः ।
सर्व्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यथ ॥ ३२ ॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽमराः !
ज्ञानाग्निः सर्व्वकर्म्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३३ ॥
नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धाः कालेनाऽऽत्मनि विन्दथ ॥ ३४ ॥

कहता हूँ कि बिना श्रीगुरुकृपाके कभी भी कहीं भी किसी प्रकारसे भी कुछ भी प्राप्त नहीं होता है॥ २८ ॥ आत्मज्ञान प्राप्तिका कारण गुरुकृपा ही है और मुझे प्राप्त करनेका कारण आत्मज्ञान है, इसमें सन्देह नहीं॥२९॥प्रणिपात, जिज्ञासा और गुरुसेवाके द्वारा उस ज्ञानका लाभ करो तत्त्वदर्शी ज्ञानिगण तुमको ज्ञानका उपदेश देंगे ॥३०॥ हे देवगण ! जिस ज्ञानके जानलेनेसे पुनः इस प्रकारके मोहको नहीं प्राप्त होगे । और जिसके द्वारा भूतगणको आत्मामें और अनन्तर मुझमें सब कुछ देख सकोगे ॥ ३१ ॥ यदि सकल पापियोंसे भी तुम अधिक पापी हो तौभी सम्पूर्ण पापरूप समुद्रको ज्ञानरूपी जहाज द्वारा सम्यक्‌रूपसे तरजाओगे ॥ ३२ ॥ हे देवगण ! जिसप्रकार प्रज्वलित अग्नि काष्ठ-समूहको भस्मसात् करती है उसीप्रकार ज्ञानरूप अग्नि सकल कर्म्मोंको भस्मसात् करदेती है ॥ ३३ ॥ क्योंकि इस लोकमें ज्ञानके समान पवित्र और कोई नहीं है, योगद्वारा सिद्धि प्राप्त होनेपर उस आत्मज्ञानको यथासमय अपनेमें स्वयं प्राप्त करोगे ॥ ३४ ॥

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाऽधिगच्छति ॥ ३५ ॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नाऽयं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ३६ ॥

योगसन्न्यस्तकर्म्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्म्माणि निबध्नन्ति दिवौकसः ! ॥ ३७ ॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठत बुभुत्सवः ! ॥ ३८ ॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ ३९ ॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।

श्रद्धावान् तत्परायण और जितेन्द्रिय व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करता है और ज्ञानको प्राप्त करके अतिशीघ्र परमशान्ति (मोक्ष) को प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥ अश्रद्धालु संशयात्मा और मूढ़ व्यक्ति नाशको प्राप्त होता है । संशयात्मा व्यक्तिकेलिये इहलोक और परलोक दोनों कष्टप्रद होते हैं और उसको सुख नहीं होता है ॥ ३६ ॥ हे देवगण ! जिस व्यक्तिने योगद्वारा सकल कर्म्मोंको आत्मामें अर्पण किया है और जिसने आत्मज्ञानद्वारा सकल संशय छिन्न कर दिये हैं ऐसे आत्मज्ञानसम्पन्न व्यक्तिको कर्म्म बन्धन नहीं कर सकते हैं ॥ ३७ ॥ अतः हे जिज्ञासु देवगण ! अपने अज्ञानसे उत्पन्न हृदयस्थ संशयको ज्ञानरूप खड्ग द्वारा छेदन करके इस योगका अवलम्बन करो ॥ ३८ ॥ ईश्वर किसीका भी पाप ग्रहण नहीं करते हैं और पुण्य भी ग्रहण नहीं करते हैं । अज्ञानके द्वारा ज्ञान आच्छन्न है इसी कारण जीवधारी मोहित होते हैं अर्थात् इन्द्रियासक्त होते हैं ॥ ३९ ॥ किन्तु आत्मज्ञानके द्वारा जिनका वह अज्ञान नष्ट होजाता है, सूर्य्य जिसप्रकार अन्धकारको नाश करके सकल वस्तुओंको प्रकाशित कर देता है

तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ ४० ॥

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ ४१ ॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ ४२ ॥

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाऽप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ ४३ ॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्व्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ ४४ ॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्व्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्व्वभूतहिते रताः ॥ ४५ ॥

उसी प्रकार उनका वह ज्ञान परमात्माको प्रकाशित करदेता है ॥४०॥ विद्या और विनयसम्पन्न ब्राह्मणपर और चाण्डालपर एवं गौ हाथी और कुत्तेपर ज्ञानीगण समदर्शी हुआ करते हैं ॥ ४१ ॥ जिनका मन समभावमें स्थित है, संसारमें रहकर ही उन्होंने संसारको जीत लिया है क्योंकि समान और निर्दोषरूपसे ब्रह्म व्यापक हैं अतः वे ब्रह्मभावमें स्थित रहते हैं ॥ ४२ ॥ ब्रह्मभावमें अवस्थित, स्थिरबुद्धि और मोहहीन ब्रह्मवेत्ता व्यक्ति प्रियवस्तु पाकर हर्षित नहीं होता है और अप्रिय वस्तु पाकर विषादयुक्त नहीं होता है ॥ ४३ ॥ आत्मभावमेंही जिसको सुखबोध होता है आत्मभावमें ही जिसको आमोद होता है और आत्मभावकी ओरही जिसकी दृष्टि है वह योगी ब्रह्मभावमें स्थित होकर ब्रह्मनिर्व्वाण अर्थात् मोक्षको प्राप्त होता है॥४४॥ पाप जिनके क्षीण होगये हैं, संशय जिनके छिन्न होगये हैं, जिनका अन्तःकरण संयमशील है और सकल प्राणिमात्रके हित करनेमें जो तत्पर हैं ऐसे ऋषिगण ब्रह्मनिर्व्वाण अर्थात् मोक्षको प्राप्त करते हैं

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्व्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम् ॥ ४६ ॥
जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ४७ ॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ४८ ॥
सुहृन्मित्रार्य्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ४९ ॥
मय्यासक्तमनस्का हि युञ्जाना योगमाश्रिताः ।
यथा ज्ञास्यथ पूर्णं मां तथा शृणुत निश्चितम् ॥ ५० ॥

॥ ४५ ॥ कामक्रोधरहित, संयमी और आत्मतत्त्वज्ञ यतिगणके लिये सर्व्वत्रही मोक्ष है : अर्थात् वे देहान्त होनेपर ही मुक्त होते हैं ऐसा नहीं है, देह रहते हुए भी वे मुक्त ही हैं ॥ ४६ ॥ केवल जितेन्द्रिय और प्रशान्त अर्थात् रागादिशून्य व्यक्तिका आत्मा अर्थात् अन्तःकरण शीत उष्ण, सुख दुःख, और मान अपमानमें अचल रह सक्ता है ॥४७॥ जिसका चित्त ज्ञान और विज्ञान द्वारा आकाङ्क्षाहीन है जो कूटस्थ अर्थात् निर्विकार है, जो जितेन्द्रिय है और जो मृत्तिकाके ढेलेमें पत्थरमें और सुवर्णमें समदृष्टि है ऐसा योगी युक्त कहाजाता है॥४८॥ सुहृत् (स्वभावतः हितैषी) मित्र (स्नेहवशतः हितैषी) अरि (घातुक) उदासीन (विवाद करनेवाले दोनों पक्षोंकी उपेक्षा करने-वाला) मध्यस्थ (विवाद करनेवाले दोनों पक्षोंका हितैषी) द्वेष्य (द्वेष करने योग्य व्यक्ति) बन्धु (सम्बन्धयुक्त व्यक्ति) साधु और यहांतक कि पापियोंपर भी जो समबुद्धि रखनेवाला है वही योगियोंमें प्रधान है ॥ ४९ ॥ मुझमें आसक्तचित्त होकर योगके आश्रयसे अभ्यास करते हुए जिस प्रकारसे मुझे पूर्णरूपसे निश्चयपूर्वक जान सकोगे उस प्रकारको सुनो ॥ ५० ॥ मैं आपलोगोंको विज्ञानसहित इस ज्ञानको सम्पूर्णरूपसे कहूंगा जिसके

ज्ञानं वोऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ ५१ ॥
मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ५२ ॥
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ५३ ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं वित्त मे पराम् ।
जीवभूतां सुपर्वाणो ययेदं धार्य्यते जगत् ॥ ५४ ॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्व्वाणीत्युपधार्य्यताम् ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ५५ ॥
मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति दिवौकसः ! ।
मयि सर्व्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ५६ ॥
इदं गुह्यतमं वश्चाऽनुसूयुभ्यो ब्रुवेऽधुना ।

जानलेनेसे जगत्में फिर कुछ जाननेका विषय अवशेष नहीं रहता है ॥ ५१ ॥ हजारों मनुष्योंमें कोई एक सिद्धिके लिये यत्न करता है और अनेक यत्न करनेवाले सिद्धोंमेंसे भी कोई एक वास्तवतः मेरे स्वरूपको जानता है ॥ ५२ ॥ पृथिवी जल तेज वायु आकाश मन बुद्धि और अहङ्कार इन आठ प्रकारके भेदोंसे युक्त मेरी प्रकृति है ॥५३॥ यह अपरानाम्नी है । हे देवगण ! इस अपरा प्रकृतिसे भिन्न मेरी परानाम्नी जीवस्वरूपा एक प्रकृति है ऐसा जानो, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है अर्थात् जो जगद्धारिका है ॥५४॥ इन्हीं दो प्रकारकी मेरीप्रकृतियोंसे पंचभूतमय सकल जगत्की उत्पत्ति हुई है ऐसा जानो, मैं सकल जगत्का परमकारणस्वरूप और प्रलय-स्थान हूँ ॥ ५५ ॥ हे देवगण ! मुझसे परे और कुछ नहीं है । सूत्रमें मणियोंके समान मुझमें यह सब जगत् ग्रथित है ॥ ५६ ॥ अब मैं यह (वक्ष्यमाण) परमगुप्त विज्ञानसहित ज्ञान भी तुम दोषदृष्टिही-

ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यथाऽशुभात् ॥ ५७ ॥
इदं शरीरं भो देवाः! क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ ५८ ॥
क्षेत्रज्ञं चाऽपि मां वित्त सर्व्वक्षेत्रेषु निर्ज्जराः ! ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ ५९ ॥
तत् क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तच्छृणुध्वं समासतः ॥ ६० ॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ६१ ॥
महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ६२ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६३ ॥

नोंको कहता हूं जिसको जानकर तुमलोग सकल पापोंसे मुक्त होजाओगे ॥ ५७ ॥ हे देवगण ! यह शरीर क्षेत्र नामसे अभिहित होता है और इस क्षेत्र को जो जानता है उसको तत्त्वज्ञानी क्षेत्रज्ञ कहते हैं॥५८॥ और हे देवगण ! सब क्षेत्रोंमें भी मुझको क्षेत्रज्ञ जानो । क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है वह ज्ञान मेरा अभिमत है ॥५९॥ जो क्षेत्र है वह जो है जैसा है जिन जिन विकारोंसे युक्त है और जिससे उत्पन्न है एवं वह क्षेत्रज्ञ भी जो है और जिस प्रभावका है सो संक्षेपसे सुनो ॥ ६० ॥ (जो) ऋषियोंसे ब्रह्मसूत्रके पदोंसे और युक्तियुक्त तथा विनिश्चित पृथक् २ विविध वैदिक मन्त्रोंसे अनेक प्रकारसे निरूपित है (उसको संक्षेपसे कहता हूँ) ॥ ६१ ॥ पंच पृथिव्यादि महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, मूलप्रकृति, दश इन्द्रियां एक मन और इन्द्रियोंके विषय (शब्दस्पर्शादि) पंच तन्मात्रा, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, सङ्घात (शरीर) चेतना (मनोवृत्ति) और धैर्य्य यह विकारयुक्त क्षेत्र संक्षेपसे कहागया है ॥ ६२-६३ ॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ ६४ ॥
सर्व्वतः पाणिपादं तत् सर्व्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्व्वतः श्रुतिमल्लोके सर्व्वमावृत्य तिष्ठति ॥ ६५ ॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्व्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्व्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ ६६ ॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च यत्॥ ६७ ॥
अविभक्तश्च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ ६८ ॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्व्वस्य धिष्ठितम् ॥ ६९ ॥
इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।

जो ज्ञेय है उसको कहूंगा जिसको जानकर (साधक) मोक्ष प्राप्त करता है । वे अनादि परब्रह्म सत् भी नहीं कहेगये हैं और असत् भी नहीं कहगये हैं ॥ ६४ ॥ वे (ब्रह्म) सर्वत्र पाणि, पाद, नेत्र, मस्तक, मुख और कर्णविशिष्ट होकर संसारमें सबको आवृत करके ठहरे हुए हैं ॥ ६५ ॥ (वे) सब इन्द्रियोंके गुणोंके आभाससे विशिष्ट, सब इन्द्रियोंसे रहित, सङ्गशून्य, सबोंके आधारभूत, गुणोंसे रहित और गुणोंके भोक्ता हैं ॥ ६६ ॥ जो जीवोंके बाहर और भीतर हैं, चर भी हैं और अचर भी हैं, सूक्ष्म होनेके कारण अविज्ञेय हैं तथा जो दूर भी हैं और समीप भी हैं ॥६७॥ जो भूतोंमें अविभक्त होनेपर भी विभक्तकी न्याईं अवस्थित हैं और वे भूतोंके पालक, संहारक तथा उत्पादक भी हैं ऐसा जानो॥६८॥वे ज्योतियोंकी भी ज्योति हैं और अज्ञानसे परे स्थित कहेजाते हैं तथा वे ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञानसे प्राप्त करने योग्य और सबके हृदयमें अवस्थित हैं ॥ ६९ ॥ इस प्रकारसे क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ ७० ॥
प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धानादी उभावपि ।
विकाराँश्च गुणाँश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥ ७१ ॥
कार्य्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ ७२ ॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ ७३ ॥
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ ७४ ॥
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिञ्च गुणैः सह ।
सर्व्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ ७५ ॥
ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्म्मयोगेन चापरे ॥ ७६ ॥

संक्षेपसे कहेगये । मेरा भक्त इनको जानकर ब्रह्मत्वप्राप्तिके योग्य होता है॥ ७० ॥ प्रकृति और पुरुष इन दोनोंको ही अनादि जानो और (देह इन्द्रिय आदि) विकार एवं (सत्त्व आदि) गुणोंको प्रकृतिसे उत्पन्न समझो ॥ ७१ ॥ कार्य्य और कारणके कर्तृत्वमें प्रकृति हेतु कही गई है और पुरुष सुख दुःखोंके भोक्तृत्वमें हेतु कहा गया है ॥ ७२ ॥ क्योंकि पुरुष प्रकृतिस्थ होकर प्रकृतिसे उत्पन्न सब गुणोंको भोगता है किन्तु इस पुरुषके सत् एवं असत् योनियोंमें जन्म होनेका कारण गुणों (सत्त्व आदि) का सङ्ग है ॥ ७३ ॥ इस देहमें (वर्त्तमान भी) पुरुष (इससे) पर अर्थात् पृथक् हैं क्योंकि वे साक्षिमात्र. अनुग्रहकर्त्ता, पोषणकर्त्ता, प्रतिपालक और महेश्वर हैं ॥ ७४ ॥ जो इस प्रकारसे पुरुषको और गुणोंके साथ प्रकृतिको जानता है वह किसी प्रकारसे अथवा किसी अवस्थामें वर्त्तमान रहनेपर भी पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करता है ॥ ७५ ॥ कोई कोई ध्यानयोगसे आत्माको बुद्धिके द्वारा देहमें देखते हैं, अन्य कोई ज्ञानयोगके द्वारा और कोई (निष्काम)

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ ७७ ॥
यावत्संजायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद्विद्ध विबुधर्षभाः ! ॥ ७८ ॥
समं सर्व्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ ७९ ॥
समं पश्यन् हि सर्व्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ ८० ॥
प्रकृत्यैव च कर्म्माणि क्रियमाणानि सर्व्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ ८१ ॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ८२ ॥

कर्म्मयोगके द्वारा आत्माको देखते हैं ॥ ७६ ॥ किन्तु अन्य कोई कोई इस प्रकारसे अर्थात् साङ्ख्ययोगादिके द्वारा आत्माको नहीं जानते हुए अन्य अर्थात् गुरु आचार्य्य आदिसे सुनकर उपासना करते हैं वे भी श्रुतिपरायण होकर मृत्युको अतिक्रमण करते ही हैं ॥ ७७ ॥ हे देवश्रेष्ठो ! जो कुछ स्थावर या जङ्गम जीव उत्पन्न होते हैं वे सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न होते हैं सो जानो ॥ ७८ ॥ सब जीवोंमें समभावसे अवस्थित और सब जीवोंके विनाश होते रहनेपर भी अविनाशी जो परमात्मा हैं उनको जो देखता है वही देखता है ॥ ७९ ॥ क्योंकि सब भूतोंमें समभावसे अवस्थित परमात्माको देखता हुआ साधक अपनेसे अपनेको हनन नहीं करता है इसलिये वह परागति अर्थात् मुक्तिको प्राप्त होता है ॥ ८० ॥ प्रकृति ही सब प्रकारके कार्य्योंको करती है और आत्मा अकर्त्ता है, इस प्रकार जो देखता है वही देखता है ॥ ८१ ॥ जब भूतोंके पृथग्भावको एकस्थ अर्थात् एकही ब्रह्ममें अवस्थित देखता है और उसी एकसे भूतोंका

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि भो देवाः ! न करोति न लिप्यते ॥ ८३ ॥
यथा सर्व्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्व्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ८४ ॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति निर्ज्जराः ! ॥ ८५ ॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षञ्च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ८६ ॥
परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्व्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ ८७ ॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ ८८ ॥

विस्तार देखता है तब वह ब्रह्म होजाता है ॥ ८२ ॥ हे देवगण ! ये परमात्मा अनादि और निर्गुण होनेके कारण अविकारी हैं (इसलिये) शरीरमें रहनेपर भी न करते हैं और न (फलोंसे) लिप्त होते हैं ॥८३॥ जिस प्रकार सबमें रहनेवाला आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिप्त नहीं होता है उसी प्रकार देहमें सर्वत्र अवस्थित परमात्मा (देहधर्म्मसे) लिप्त नहीं होते हैं ॥ ८४ ॥ हे देवगण ! जिस प्रकार एक सूर्य्य इस सम्पूर्ण लोकको प्रकाशित करता है उसी प्रकार क्षेत्री अर्थात् क्षेत्रज्ञ आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्र अर्थात् महाभूतादिविशिष्ट शरीरोंको प्रकाशित करता है ॥ ८५ ॥ इस प्रकारसे जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका प्रभेद एवं जीवोंकी प्रकृतिसे मुक्ति ज्ञाननेत्रसे जानते हैं वे परमपदको प्राप्त होते हैं ॥८६॥ मैं पुनः सब ज्ञानोंमें उत्तम परम ज्ञान अर्थात् परमात्म-सम्बन्धी ज्ञान कहूंगा जिसको जानकर सब मुनिगण इस देह-बन्धनसे (मुक्त होकर) परा सिद्धि अर्थात् मोक्षको प्राप्त हुए हैं ॥८७॥ इस ज्ञानको पाकर मेरे स्वरूपत्वको प्राप्त होते हुए (वे मुनिगण) सृष्टिकालमें भी उत्पन्न नहीं होते और न प्रलयकालमें प्रलयका

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहं ।
सम्भवः सर्व्वभूतानां ततो भवति निर्ज्जराः ! ॥ ८९ ॥
सर्व्वयोनिषु भो देवाः ! मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ९० ॥
पञ्चैतानि सुरश्रेष्ठाः! कारणानि निबोधत ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्व्वकर्म्मणाम् ॥ ९१ ॥
अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणञ्च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ ९२ ॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म्म प्रारभ्यते खलु ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ ९३ ॥
तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलन्तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ ९४ ॥

दुःख अनुभव करते हैं ॥ ८८ ॥ हे देवगण ! महद्ब्रह्म अर्थात् मूलप्रकृति मेरी योनि (गर्भाधानका स्थान) है, उसीमें मैं गर्भाधान करता हूं उससे सब भूतोंकी अर्थात् ब्रह्मा आदिकी उत्पत्ति होती है ॥ ८६ ॥ हे देवगण ! सब योनियोंमें जो (स्थावर जङ्गम रूपी) मूर्त्तियां उत्पन्न होती हैं महद्ब्रह्म अर्थात् मूलप्रकृति उनकी योनि अर्थात् मातृस्थानीय है और मैं बीजप्रद (गर्भाधानकर्त्ता) पिता हूं ॥ ६० ॥ हे सुरश्रेष्ठो ! सब कर्म्मोंकी सिद्धिके लिये ज्ञानप्रतिपादक शास्त्रमें कहे हुए वक्ष्यमाण पांच कारणोंको जानो ॥९१॥ इस संसारमें अधिष्ठान (शरीर) कर्त्ता (अहङ्कार) अनेक प्रकारके करण (चक्षुरादि इन्द्रियां) नानाविध चेष्टा अर्थात् प्राण अपान आदिकी क्रियाएँ और दैव पाचवां है ॥ ६२ ॥ शरीर, वाक् और मन द्वारा जो धर्म्म अथवा अधर्म्म कर्म्म कियाजाता है, पूर्वोक्त ये ही पांच उसके हेतु हैं ॥ ९३ ॥ ऐसा होनेपर उक्त विषयमें जो व्यक्ति केवल (निःसङ्ग) आत्माको कर्त्ता समझता है, अनिर्मल बुद्धि होनेके कारण वह दुर्मति (अविवेकी) देख नहीं सकता है अर्थात्

यस्य नाऽहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते ॥ ९५ ॥

दूरेण ह्यवरं कर्म्म बुद्धियोगाद्दिवौकसः ! ।
अन्विच्छताश्रयं बुद्धौ कृपणाः फलहेतवः ॥ ९६ ॥

या निशा सर्व्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ९७ ॥

प्रजहाति यदा कामान् देवाः ! सर्व्वान् मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ९८ ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ९९ ॥

यथार्थदर्शी नहीं है ॥ ९४ ॥ जिसको " मैं कर्त्ता हूं " यह भाव नहीं है और जिसकी बुद्धि (इष्टानिष्ट कर्म्ममें) लिप्त नहीं होती है वह इन सब लोकोंको नाश करके भी नहीं नाश करता है और बन्धनको प्राप्त नहीं होता है॥९५॥हे देवगण ! ज्ञानयोगकी अपेक्षा काम्यकर्म्म अत्यन्त ही निकृष्ट है इसलिये आपलोग ज्ञानयोगके आश्रयकी इच्छा करें; फलके चाहनेवाले व्यक्ति कृपण अर्थात् निकृष्ट होते हैं ॥९६॥ (अज्ञानाच्छन्न) सब भूतोंकेलिये जो रात्रि है अर्थात् वे आत्माको नहीं देखसक्ते हैं उस रात्रिमें जितेन्द्रिय व्यक्ति जागता है अर्थात् आत्मसाक्षात्कार करता है और जिस (विषयबुद्धि) में जीवगण जागते हैं अर्थात् जगत्‌को सत्य अनुभव करते हैं वह आत्मतत्त्वदर्शी मुनिकेलिये रात्रिके समान है अर्थात् उसकी विषयोंकी ओर दृष्टि नहीं रहती है ॥ ९७ ॥ हे देवगण ! (परमानन्दरूप) आत्मामेंही स्वयं तुष्ट होकर जब (योगी) मनोगत सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहाजाता है ॥ ९८ ॥ जिसका मन दुःखोंमें उद्विग्न नहीं होता है, सुखोंमें जिसकी स्पृहा नहीं है और जिसके राग, भय एवं क्रोध दूर होगये हैं वह मुनि ' स्थितधी ' कहाजाता है ॥ ९९ ॥

यः सर्व्वत्रानाभिस्नेहस्तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ १००॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्व्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ १०१॥

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते॥ १०२॥

यततो ह्यपि हे देवाः! साधकस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ १०३॥

तानि सर्व्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ १०४॥

ध्यायतो विषयानस्य सङ्गस्तेषूपजायते।

जो सब विषयोंमें ममताशून्य होकर उस उस शुभ और अशुभको प्राप्त करके न आनन्दित होता है और न विषादयुक्त होता है उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है अर्थात् प्रकृष्टरूपसे ब्रह्ममें स्थित रहती है॥ १००॥ जब यह (योगी) इन्द्रियोंके सब विषयोंसे इन्द्रियोंको, कछुआ जैसे अङ्गोंको खींच लेता है उसी प्रकार सर्वथा खींच लेता है तब उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है॥ १०१॥ जो इन्द्रियद्वारा विषय ग्रहण नहीं करता है ऐसे देहधारी व्यक्तिके विषय निवृत्त होजाते हैं किन्तु भोगाभिलाषा निवृत्त नहीं होती है; परन्तु परमात्माके साक्षात्कार होनेपर उसकी वह विषयभोगकी अभिलाषा भी निवृत्त होजाती है॥ १०२॥ क्योंकि हे देवगण! यत्न करते हुए विद्वान् साधकके भी मनको प्रमाथी अर्थात् क्षोभ उत्पन्न करनेवाले इन्द्रियगण हठात् खींच लेते हैं॥ १०३॥ योगी उन सब इन्द्रियोंको संयत करके आत्मपरायण होकर रहें क्योंकि जिसकी इन्द्रियां वशमें हैं उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है॥ १०४॥ विषयोंकी चिन्ता करनेवाले

सङ्गात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥ १०५ ॥
क्रोधात् भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥ १०६ ॥
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ १०७ ॥
प्रसादे सर्व्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते ॥ १०८ ॥
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥१०९॥
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।

योगीकी आसक्ति विषयोंमें होजाती है और आसक्तिसे काम उत्पन्न होता है एवं कामसे क्रोध उत्पन्न होता है ॥ १०५ ॥ क्रोधसे सम्मोह होता है,सम्मोहसे स्मृतिविभ्रम, स्मृतिके भ्रष्ट होनेसे बुद्धि-का नाश और बुद्धिनाशसे (जीव) नष्ट होजाता है अर्थात् घोररूपसे पतित होजाता है ॥ १०६ ॥ किन्तु रागद्वेषसे रहित आत्मवशीभूत इन्द्रियोंके द्वारा विषयभोग करनेपर जिसका मन वशीभूत है ऐसा व्यक्ति प्रसाद (आत्मप्रसाद-परमप्रसन्नता) अर्थात् शान्तिलाभ करता है ॥ १०७ ॥ आत्मप्रसाद प्राप्त करनेपर योगीके सब दुःख नष्ट होजाते हैं क्योंकि प्रसन्नचित्त व्यक्तिकी बुद्धि शीघ्र प्रतिष्ठित अर्थात् आत्मनिष्ठ होजाती है ॥ १०८ ॥ (ब्रह्ममें) अयुक्त व्यक्तिकी (आत्मविषयिणी)बुद्धि नही होती है, अयुक्त व्यक्तिको भावना अर्थात् आत्मविषयक ध्यान भी नहीं होता है, आत्मध्यानविहीन व्यक्तिको शान्ति नहीं मिलती और शान्तिहीन व्यक्तिकेलिये (मोक्षानन्द-रूप) सुख कहां ? ॥ १०९ ॥ क्योंकि जिस प्रकार वायु (असाव-धान कर्णधारवाली) नौकाको जलमें डुबा देता है उसी प्रकार इन्द्रियां जिधरको जाती हैं उसी ओर जो मन लगायाजाता है तो

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ११० ॥

तस्माद्यस्य सुरश्रेष्ठाः ! निगृहीतानि सर्व्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ १११ ॥

देवा ऊचुः ॥ ११२ ॥

ज्ञानाधार ! दयागार ! विश्वात्मन् ! विश्वभावन ! ।
रहस्यं ज्ञानकाण्डस्य वैदिकस्य तदद्भुतम् ॥ ११३ ॥
श्रुत्वा साम्प्रतमज्ञानान्मुक्ता जाता वयं विभो ! ।
किन्तु संश्रूयते नाथ ! कश्चिज्जीवो न चार्हति ॥ ११४ ॥
सन्न्यासेन विना मुक्तिमधिगन्तुं कदाचन ।
सन्न्यासलक्षणञ्चातस्तद्रहस्यञ्च हे प्रभो ! ॥ ११५ ॥
ब्रूहि येन कृतार्था हि भवामस्त्वरितं वयम् ।
प्राप्नुमः परमात्मानं भवन्तं चैव मुक्तिदम् ॥ ११६ ॥

वह मन योगीकी प्रज्ञाको (विषयमें) खींच लेता है ॥ ११० ॥
इसलिये हे सुरश्रेष्ठो ! जिसकी इन्द्रियां इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्रकारसे निगृहीत हैं उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है ॥ १११ ॥

देवतागण बोले ॥ ११२ ॥

हे ज्ञानाधार ! हे दयासिन्धो ! हे विश्वात्मन् ! हे विश्वभावन ! वैदिक ज्ञानकाण्डके उस अद्भुत रहस्यको सुनकर हे विभो ! हम इस समय अज्ञानमुक्त हुए हैं परन्तु हे नाथ ! सुना है कि विना सन्न्यासके कोई जीव कभी मुक्त नहीं हो सक्ता इस कारण हे प्रभो ! सन्न्यास क्या है और इसका रहस्य क्या है सो कहें जिससे हम शीघ्र कृतकृत्य होवें और परमात्मा और मुक्तिदाता आपको प्राप्त हों ॥ ११३-११६ ॥

महाविष्णुरुवाच ॥ ११७ ॥

सन्न्यासः कर्म्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्म्मसन्न्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते ॥ ११८ ॥
ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि सुपर्वाणः ! सुखं बन्धाद्विमुच्यते ॥ ११९ ॥
सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ १२० ॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यञ्च योगञ्च यः पश्यति स पश्यति ॥ १२१ ॥
सन्न्यासस्तु सुरश्रेष्ठाः ! दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाऽधिगच्छति ॥ १२२ ॥
योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।

महाविष्णु बोले ॥ ११७ ॥

कर्म्मत्याग और कर्म्मयोग दोनों मोक्षदायक हैं किन्तु उनमें कर्म्मसन्न्याससे कर्म्मयोग श्रेष्ठ है ॥११८॥ जो न द्वेष करता है और न आकाङ्क्षा करता है उसको नित्य सन्न्यासी अर्थात् कर्म्मके अनुष्ठानकालमें भी सन्न्यासी जानना उचित है क्योंकि हे देवगण ! (रागद्वेषादि) द्वन्द्वसे रहित व्यक्ति अनायास बन्धनसे छूटजाता है॥११९॥साङ्ख्य और योग अर्थात् ज्ञानयोग और कर्म्मयोग पृथक् हैं इस बातको अज्ञलोग कहते हैं पण्डितलोग नहीं कहते हैं क्योंकि एकका सम्यक् आश्रय करनेवाला भी दोनोंका फल पाता है ॥१२०॥ जो स्थान साङ्ख्य से प्राप्त होता है वह योगसे भी प्राप्त होता है, जो साङ्ख्य और योगको एक देखता है वह देखता है अर्थात् वह यथार्थदर्शी है ॥ १२१ ॥ हे सुरश्रेष्ठो ! कर्म्मयोगके विना सन्न्यास का प्राप्त करना दुःसाध्य है किन्तु योगयुक्त मुनि शीघ्रही ब्रह्मको प्राप्त करता है ॥ १२२ ॥ विशुद्धचित्त, विजितमन, जितेन्द्रिय और

सर्व्वभूतात्मभूतात्मा कुर्व्वन्नपि न लिप्यते ॥ १२३ ॥
नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन् शृण्वन्स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन् गच्छन्स्वपन् श्वसन् ॥१२४॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन् ॥ १२५ ॥
ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १२६ ॥
सर्व्वकर्म्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्व्वन् न कारयन् ॥ १२७ ॥
अनाश्रितः कर्म्मफलं कार्य्यं कर्म्म करोति यः ।
स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाऽक्रियः ॥१२८॥
यत्कुरुध्वे यदश्नीथ यज्जुहुध्वे च दत्थ यत् ।

सब भूतोंकी आत्माही जिसकी आत्मा है ऐसा योगयुक्त व्यक्ति कर्म्म करता हुआ भी कर्म्ममें बद्ध नहीं होता है ॥ १२३ ॥ (ब्रह्ममें) युक्त तत्त्ववित् व्यक्ति दर्शन, श्रवण, स्पर्श, घ्राण, भोजन, गमन, निद्रा, श्वास, भाषण, त्याग, ग्रहण, उन्मेष और निमेष करता हुआ भी, इन्द्रियगण इन्द्रियके विषयोंमें प्रवृत्त होते हैं ऐसी धारणा करता हुआ मैं कुछ भी नहीं करता हूं ऐसा समझता है ॥ १२४-१२५ ॥ जिस प्रकार पद्मपत्र जलमें लिप्त नहीं होता है उसी प्रकार कर्म्मोंको ब्रह्ममें समर्पित और फलासक्ति त्याग करके जो कर्म्म करता है वह पाप अर्थात् बन्धन करनेवाले कर्म्मोंसे लिप्त नहीं होता है॥१२६॥ जितेन्द्रिय देही (विवेकयुक्त) मनके द्वारा सब कर्म्मोंका त्याग करके नव द्वारोंसे युक्त पुरमें अर्थात् स्थूल शरीरमें नहीं कुछ करता हुआ और नहीं कुछ कराता हुआ सुखपूर्वक रहता है ॥ १२७ ॥ जो कर्म्मफलका आश्रय नहीं करके कर्त्तव्य कर्म्म करता है वही सन्न्यासी है और वही योगी है। निरग्नि अर्थात् अग्निसाध्य इष्टादि कर्म्म-

यत्तपस्यथ भो देवाः! तत्कुरुध्वं मदर्पणम् ॥ १२९ ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यध्वे कर्म्मबन्धनैः ।
सन्न्यासयोगयुक्ता हि विमुक्ता मामुपैष्यथ ॥ १३० ॥
काम्यानां कर्म्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः ।
सर्व्वकर्म्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ १३१ ॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ १३२ ॥
श्रूयतां निश्चयस्तत्र त्यागे मेऽमृतभोजिनः ! ।
त्यागो हि विबुधश्रेष्ठाः ! त्रिविधः परिकीर्त्तितः ॥ १३३ ॥
यज्ञदानतपःकर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ १३४ ॥

त्यागी और अक्रिय (पूर्त्यादिकर्म्म रहित) व्यक्ति सन्न्यासी नहीं होता है ॥१२८॥ हे देवगण ! आपलोग जो कर्म करते हैं, जो भोजन करते हैं, जो होम करते हैं, जो देते हैं और जो तपस्या करते हैं उसको मुझमें अर्पण करें ॥ १२९ ॥ ऐसा करनेसे शुभ और अशुभ फल देनेवाले कर्म्मबन्धनोंसे छूटजाओगे क्योंकि आपलोग (मुझमें फलसमर्पण-रूपी) सन्न्यासयोगमें युक्त होनेसे विमुक्त होकर मुझको प्राप्त करेंगे ॥ १३० ॥ दूरदर्शी पण्डितलोग काम्यकर्म्मोंके त्यागको सन्न्यास कहते हैं और सब कर्म्मोंके फलोंके त्यागको त्याग कहते हैं ॥ १३१ ॥ कोई कोई पण्डितलोग दोषयुक्त कर्म्मको त्याज्य कहते हैं और कोई यज्ञ, तप और दान त्याज्य नहीं है ऐसा कहते हैं ॥ १३२ ॥ हे अमृतभोजी देवश्रेष्ठो ! उस त्यागके विषयमें मेरा निश्चय सुनें । त्याग तीन प्रकारका कहागया है ॥१३३॥ यज्ञ, तप और दान ये तीन कर्म्म त्याग करनेके योग्य नहीं हैं ये निश्चयही कर्तव्य हैं, यज्ञ तप और दान विवेकियोंको भी पवित्र करनेवाले हैं ॥ १३४ ॥

एतान्यपि तु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्त्तव्यानीति मे देवाः ! निश्चितं मतमुत्तमम ॥ १३५ ॥
न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १३६ ॥
नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्म्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्म्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ १३७ ॥
अनिष्टमिष्टं मिश्रञ्च त्रिविधं कर्म्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्न्यासिनां क्वचित् ॥ १३८ ॥
सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोधत ।
समासेनैव भो देवाः ! निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ १३९ ॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयाँस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ १४० ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।

किन्तु हे देवगण ! ये कर्म्म भी आसक्ति और फलका त्याग करके करने योग्य हैं यह मेरा निश्चित उत्तम मत है ॥ १३५ ॥ सत्त्वगुणशाली मेधावी संशयरहित त्यागी व्यक्ति अकुशल (दुःखजनक) कर्म्ममें द्वेष नहीं करता है और न कुशल (सुखकर) कर्म्ममें आसक्त होता है ॥ १३६ ॥ क्योंकि देहधारी निःशेषरूपसे कर्म्मोंका त्याग नहीं कर सकता है किन्तु जो कर्म्मके फलको त्याग करता है वह त्यागी कहाजाता है ॥ १३७ ॥ इष्ट (प्रिय) अनिष्ट (अप्रिय) और मिश्र अर्थात् इष्टानिष्ट, यह कर्म्मका त्रिविध फल सकाम व्यक्तियोंको परकालमें होता है किन्तु सन्न्यासियोंको कहीं भी नहीं होता है ॥ १३८ ॥ हे देवगण ! नैष्कर्म्यसिद्धि-प्राप्त व्यक्ति जिस प्रकार ब्रह्मको प्राप्त होता है और जो चरम ज्ञान है उसको संक्षेपसे ही सुनो ॥ १३९ ॥ विशुद्ध-बुद्धियुक्त होकर धैर्य्यके द्वारा बुद्धिको संयत करके शब्दादि विषयोंका त्याग करके और राग द्वेषको दूर करके निर्जनस्थानवासी एवं मितभोजी होकर शरीर वाणी और मनको संयत करके सदा ज्ञानयोगमें तत्पर होता हुआ वैराग्यको

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ १४१ ॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्म्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १४२ ॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्व्वेषु भूतेषु सन्न्यासं लभते परम् ॥ १४३ ॥
मां सन्न्यासेन जानाति यावान् यश्चाऽस्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ १४४ ॥
सर्व्वकर्म्माण्यपि सदा कुर्व्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ १४५ ॥
चेतसा सर्व्वकर्म्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्ताः स्यात सर्व्वथा ॥ १४६ ॥

इति श्रीविष्णुगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे देवमहाविष्णुसम्वादे ज्ञानयोगवर्णनं नाम षष्ठोऽध्यायः ।

भलीभांति आश्रय करके अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके ममताशून्य होकर शान्त व्यक्ति ब्रह्म ही होजाता है ॥ १४१-१४२ ॥ ब्रह्मभूत और प्रसन्नचित्त व्यक्ति (नष्ट वस्तुकेलिये) शोक नहीं करता है और (अप्राप्त वस्तुकेलिये) आकाङ्क्षा नहीं करता है, सब भूतोंमें समभावापन्न होकर श्रेष्ठ सन्न्यासको प्राप्त होता है ॥ १४३ ॥ मैं जिस प्रकारका और जो हूं सो यथार्थरूपसे सन्न्यासके द्वारा वह जानता है और मुझको यथार्थरूपसे जानकर अनन्तर मुझमें प्रवेश कर जाता है॥१४४॥सर्वदा सब प्रकारका कर्म्म करता हुआ भी मत्परायण व्यक्ति मेरे अनुग्रहसे सनातन नित्यपदको प्राप्त होता है ॥ १४५ ॥ (आपलोग) चित्तसे सब कर्म्मोंको मुझमें अर्पण करके मत्परायण होकर बुद्धियोगका आश्रय करके सर्वथा मच्चित्त होवें॥१४६॥

इस प्रकार श्रीविष्णुगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योगशास्त्रका देवमहाविष्णुसम्वादात्मक ज्ञानयोगवर्णन-नामक षष्ठ अध्याय समाप्त हुआ ।

विश्वरूपदर्शनयोगवर्णनम् ।

देवा ऊचुः ॥ १ ॥

सर्व्वलोकाश्रयश्रेष्ठ ! परमात्मन् ! जगद्गुरो ! ।
त्वत्प्राप्तिमुख्यहेतोर्हि ज्ञानकाण्डस्य हे प्रभो ! ॥ २ ॥
रहस्यं मुक्तिदं जाता शृण्वतां नः कृतार्थता ।
भूयोऽपि श्रोतुमिच्छामो मधुरां ते गिरं हिताम् ॥ ३ ॥
कस्मिन् रूपे भवन्तं हि चिन्तयन्तो वयं विभो ! ।
शक्नुमोऽनुपलं लब्धुं भवन्तं ज्ञानदायिनम् ॥ ४ ॥
अशेषं वर्णयित्वेदमस्मानाश्वासय प्रभो ! ।
भवता साम्प्रतं नाथ ! कृपयाऽसीमया यतः ॥ ५ ॥
नानाज्ञानमयैर्वाक्यैः कृतकृत्या वयं कृताः ।
अतो न विरहं सोढुं शक्ष्यामः क्षणमच्युत ॥ ६ ॥

देवतागण बोले ॥ १ ॥

हे सर्व्वलोकाश्रयश्रेष्ठ ! हे प्रभो ! हे परमात्मन् ! हे जगद्गुरो ! आपकी प्राप्तिके प्रधान कारणरूप ज्ञानकाण्डका मुक्तिप्रद रहस्य सुनकर हमलोग कृतार्थ हुए । हम फिर भी आपकी मधुर और हितकरी वाणीको सुनना चाहते हैं ॥ २-३ ॥ हे विभो ! किस रूपमें आप ज्ञानदाताको चिन्तन करनेसे हमलोग हर समय आपको प्राप्त करनेमें समर्थ होंगे ॥ ४ ॥ हे प्रभो ! इस विषयको पूर्णतया वर्णन करके हमें आश्वासन दीजिये क्योंकि हे नाथ ! इस समय आपने जो असीम कृपा करके अनेक ज्ञानमय उपदेशोंसे हमलोगोंको कृतकृत्य किया है इसलिये हमलोग आपके विरहको क्षणभर भी सहन नहीं कर सकेंगे ॥ ५-६ ॥

महाविष्णुरुवाच ॥ ७ ॥

अपि वः श्रद्धया भक्त्या प्रसन्नोऽस्मि दिवौकसः ! ।
भवद्भ्यः साम्प्रतं दिव्यं ज्ञाननेत्रं ददाम्यहम् ॥ ८ ॥
यूयं यज्ज्ञाननेत्रेण स्थातुं शक्ताः सुरर्षभाः ! ।
चेद्विज्ञानमये कोषे तदा भवितुमर्हथ ॥ ९ ॥
कृतकृत्या अनाद्यन्तं दृष्ट्वा नित्यास्थितं विभुम् ।
रूपं स्थूलादपि स्थूलं ममैताद्धि प्रतिक्षणम् ॥ १० ॥

व्यास उवाच ॥ ११ ॥

ततो ज्ञाननिधिर्मान्यो महाविष्णुर्दयार्णवः ।
दिव्यं ज्ञानमयं चक्षुर्देवेभ्यो दत्तवान् प्रभुः ॥ १२ ॥
सर्व्वे देवास्तदानीम्वै स्थिराङ्गाः स्थिरलोचनाः ।
समाधिस्था भवन्तो हि विस्मिताश्च विशेषतः ॥ १३ ॥
बुद्धेरतीतं जीवानामवाङ्मनसगोचरम् ।
विराड्रूपञ्च पश्यन्तस्तुष्टुवुस्ते तदद्भुतम् ॥ १४ ॥

महाविष्णु बोले ॥ ७ ॥

हे देवगण ! आपलोगोंकी श्रद्धा और भक्तिसे मैं प्रसन्न हूँ, अब मैं आपलोगोंको दिव्य ज्ञाननेत्र प्रदान करता हूँ जिसके द्वारा हे सुर-श्रेष्ठो ! आप यदि विज्ञानमय कोषमें स्थित रहसकोगे तो मेरे इस अनादि अनन्त नित्यस्थित विभु स्थूलातिस्थूल रूपको हर समय दर्शन करके कृतकृत्य हो सकोगे ॥ ८-१० ॥

व्यासदेव बोले ॥ ११ ॥

तब करुणासागर ज्ञाननिधि और मान्य प्रभु महाविष्णुने देवताओं को ज्ञानमय दिव्य चक्षु प्रदान किया ॥१२॥ तब वे सब देवगण स्थिर-गात्र और स्थिरनेत्र होकर समाधिस्थ और विशेष विस्मित होते हुए जीवोंके मन वचन और बुद्धिसे अतीत उस अद्भुत विराट्रूपका दर्शन करते हुए स्तुति करनेलगे ॥ १३-१४ ॥

देवा ऊचुः ॥ १५ ॥

देवादिदेव ! त्वदचिन्त्यदेहे
आद्यन्तशून्ये प्रसमीक्ष्य नूनम् ।
देवानृषीन् पितृगणाननन्तान्
पृथक् स्थितान् विस्मयमावहामः ॥ १६ ॥
तवैव देहाद्भुवनानि देव !
चतुर्दशैतेषु निवासिनो हि ।
देवाश्च दैत्याश्च मनुष्यसङ्घा-
श्चतुर्विधा भूतगणाश्च सर्वे ॥ १७ ॥
जाताः पृथक् सन्ति चतुर्दशस्वहो
यान्त्यत्र नाशं भुवनैर्निजैः समम् ।
संपश्यतामीदृशमद्भुतं प्रभो !
बुद्धिर्भ्रमे मज्जति नः समाकुला ॥ १८ ॥
देवाश्च ये स्थूलशरीरमानिनो
विशन्ति ते सूक्ष्मशरीरमानिषु ।

देवतागण बोले ॥ १५ ॥

हे देवादिदेव ! हमलोग आपके अनादि अनन्त और अचिन्त्य देहमें अनन्त देवसमूह, ऋषिसमूह और पितृसमूहको पृथक् पृथक् स्थित देखकर अवश्य ही विस्मित हो रहे हैं ॥ १६ ॥ हे देव ! आपके ही देहसे चतुर्दश भुवन और इनके निवासी देव, दैत्य, मनुष्यसमूह और सब चतुर्विध भूतसङ्घ उत्पन्न हुए हैं, चतुर्दश भुवनोंमें पृथक् पृथक् हैं और अहो ! अपने लोकोंके साथ इसी (आपके देहमें) नाशको प्राप्त होते हैं । हे प्रभो ! इस प्रकार आश्चर्य्यको देखते हुए हमलोगोंकी बुद्धि व्याकुल होकर भ्रममें मग्न होती है ॥ १७-१८ ॥ अहो ! जो स्थूलदेहाभिमानी देवतागण हैं वे सूक्ष्मदेहाभिमानी

देवास्तु ये सूक्ष्मशरीरमानिनो
विशन्त्यहो कारणकायमानिषु ॥ १९ ॥
इमे तु सर्वे प्रविशन्त्यचिन्त्ये
महाप्रभावे क्व च तन्न विद्मः ।
दृष्ट्वेदृशं तेऽद्भुतकार्यमीश !
वयं विमुग्धाः खलु ते प्रभावात् ॥ २० ॥
साचिन्त्यशक्तिर्भवतो ध्रुवा किम् ?
या वाङ्मनोबुद्धिभिरप्रमेया ।
त्वत्तो जनित्वा निजगर्भमध्ये
लोकान् धरत्येव चतुर्द्दशालम् ॥ २१ ॥
ब्रह्माण्डमप्येवमनन्तपिण्ड–
मयञ्च सर्गं धरते सदा सा ।
सर्वं प्रसूते पुनरन्तकाले
लीनं तु तत् सा कुरुते स्वगर्भे ॥ २२ ॥
दृष्ट्वा चमत्कारमिमं न विद्मः

देवताओंमें प्रवेश करते हैं और जो सूक्ष्मदेहाभिमानी देवतागण हैं वे कारणदेहाभिमानी देवताओंमें प्रवेश करते हैं ॥ १९ ॥ किन्तु ये सब किस अचिन्त्य महाप्रभाववान्में प्रवेश करते हैं सो हमलोग नहीं समझ रहे हैं । हे ईश ! इस प्रकार आपका अद्भुत कार्य्य देखकर आपके प्रभावसे हमलोग विमुग्ध हो रहे हैं ॥ २० ॥ क्या वह नित्या अचिन्त्य शक्ति आपकी है ? वाणी मन और बुद्धिसे अगोचर जो शक्ति आपसेही उत्पन्न होकर चतुर्दश लोकोंको अपने गर्भमें भलीभांति धारण करती है ॥ २१ ॥ इसी प्रकार वह शक्ति अनन्त ब्रह्माण्ड और पिण्डमय सृष्टिको भी सदा स्थित रखती है, सबको उत्पन्न करती है और पुनः अन्तकालमें वह उन सबोंको अपने गर्भमें लीन करलेती है ॥ २२ ॥ हे ईश ! इस चमत्कारको देखकर हम नहीं समझ रहे हैं

कथं भवत्यद्भुतमेतदीश ! ।
किं कारणञ्चास्य पुनः क आदि-
रस्य प्रवाहस्य तथाऽस्ति कोऽन्तः ॥ २३ ॥
अनन्त ! सर्वेऽनुभवाम आदरात्
त्वामीश ! जन्मस्थितिनाशवर्ज्जितम् ।
अनन्तवक्त्रं बहुधा स्तुतं सुरै-
र्गन्धर्वयक्षैर्विविधैश्च सूरिभिः ॥ २४ ॥
अमितशक्तियुतोऽपि भवन् भवा-
नमितबाहुरसि त्वमनन्तपात् ।
अमितसूर्य्य मृगाङ्क-शिखिग्रहा-
दमितनेत्रधरस्त्वामिहेक्ष्यसे ॥ २५ ॥
त्वं तेजसां तेज इहासि चेतने
चैतन्यरूपोऽसि ददासि शक्तये ।
शक्तिं प्रभो ! प्रेरयसे मतिं तथा ।
त्वत्सत्तया सर्वमिदं हि सत्त्ववत् ॥ २६ ॥

कि यह चमत्कार कैसे हो रहा है, इसका कारण क्या है और इस प्रवाहका आदि क्या है तथा अन्त क्या है ॥ २३ ॥ हे अनन्त ! हे ईश ! हम सब भलीभांति अनुभव करते हैं कि आप उत्पत्ति, स्थिति और विनाशसे रहित हो, अनन्तमुख हो और अनेक देवता गन्धर्व यक्ष और विद्वानोंके द्वारा अनेक प्रकारसे स्तुत हो ॥ २४ ॥ आप हमलोगोंको यहां अमितशक्तियुक्त होते हुए भी अनन्त बाहु एवं अनन्त पादविशिष्ट और अनन्त सूर्य्य चन्द्र तथा अग्निको ग्रहण करनेवाले होनेके कारण अनन्तनेत्रधारी दृष्टिगोचर हो रहे हैं ॥ २५ ॥ आप तेजोंके भी तेज हैं, चेतनमें चैतन्यरूप हैं, हे प्रभो ! आप शक्तिको शक्ति देते हैं और बुद्धिको (सत्कर्म्मोंमें) प्रेरित करते हैं क्योंकि आपकी सत्तासे यह समस्त विश्व यहां सत्तावान् होरहा है ॥ २६ ॥

विभो ! त्वयैकेन हि मध्यलोक
ऊर्द्ध्वं तथाऽधश्च दिशां समूहः ।
अनाद्यनन्तः समयस्तथासौ
व्याप्तोऽस्ति धीर्येन विमोहिता नः ॥ २७ ॥
गुरो ! जगत्कारण ! ते शरीरा-
दद्वैतरूपात्तव शक्तिराद्या ।
याऽचिन्तनीया प्रकटत्वमेति
ब्रह्माण्डमेषा तनुते ह्यनन्तम् ॥ २८ ॥
पूर्वं महत्तत्त्ववराभिमानी
जातस्ततोऽहङ्कृतितत्त्वमानी ।
देवस्ततो मानसतत्त्वमानी
निर्माति चोत्पाद्य विचित्रदृश्यम् ॥ २९ ॥
ततः क्रमेणैव सुरा इमे सदा
तन्मात्रतत्त्वस्य किलाभिमानिनः ।

हे विभो ! एक आपसे ही ऊर्द्ध्वलोक,अधोलोक, मध्यलोक, अनादि अनन्त यह दिक्समूह और अनादि अनन्त यह काल व्याप्त हैं जिससे हमारी बुद्धि विमुग्ध हो रही है ॥ २७ ॥ हे जगत्कारण ! हे गुरो ! अद्वैतरूप आपके शरीरसे जो आपकी अचिन्तनीया आद्या शक्ति प्रकट होती है वही अनन्त ब्रह्माण्डोंका विस्तार करती है ॥ २८ ॥ पहले श्रेष्ठ महत्तत्त्वका अभिमानी देवता प्रकट होता है, अनन्तर अहङ्कारतत्त्वका अभिमानी देवता और उसके पश्चात् मानसतत्त्वका अभिमानी देवता प्रकट होकर विचित्र दृश्यकी रचना करते हैं ॥२९॥ उसी क्रमसेही पञ्चतन्मात्राके अभिमानी देवता, पञ्चज्ञानेन्द्रिय और पञ्चकर्म्मेन्द्रियके अभिमानी देवता और पञ्चमहाभूतोंके परम अभिमानी देवता ये सब सदा आपके शरीरसे प्रकट होते हुए

ज्ञानेन्द्रियाणामथ येऽभिमानिनः
कर्म्मेन्द्रियाणामपि येऽभिमानिनः ॥ ३० ॥
ये पञ्चभूतैकपराभिमानिन-
स्ते त्वच्छरीरादभिजायमानाः ।
नास्तिस्वरूपाज्जगतोऽस्तिभावं
प्रकुर्वते ते गहनप्रभावः ॥ ३१ ॥
शक्तिस्तवाचिन्त्यविभावशालिनी
स्वस्यां तनौ सर्वलयं प्रकुर्वती ।
त्वय्येव नैजं विलयं वितन्वती
प्रपातयत्यत्र विचित्रतासु नः ॥ ३२ ॥
त्वत्तो ह्यनन्ता विधि-विष्णु-शम्भवः
कुर्वन्ति सम्भूय जनिं स्थितिं लयम् ।
ब्रह्माण्डकस्याप्यमितस्य सर्वथा
चराचरस्याद्भुतचित्रताजुषः ॥ ३३ ॥
केचिद्यथा बालगणा रजोगृहं
निर्म्मान्त्यवन्त्यन्य इदं तथाऽपरे ।

जगत्को नास्तिरूपसे अस्तिरूपमें करदेते हैं ; आपका प्रभाव गहन अर्थात् महान् है ॥ ३०-३१ ॥ आपकी अचिन्त्यप्रभावशालिनी शक्ति अपने शरीरमें सबोंको लय करती हुई और अपना विलय आपमें ही करती हुई हमको यहां विचित्रतामें गिरा रही है अर्थात् हमको आश्चर्य्यमें डुबा रही है ॥ ३२ ॥ आपसे ही अनन्त ब्रह्मा विष्णु और महेश प्रकट होकर आश्चर्य्ययुक्त विचित्रतापूर्ण चराचरमय अनन्त ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति स्थिति और लयका भी सर्वथा विधान करते हैं ॥ ३३ ॥ हे प्रभो ! जैसे कोई बालक धूलिका घर बनाते हैं, कोई उसकी रक्षा करते हैं और अन्य कोई उसको नष्ट कर देते हैं; उसी

विनाशयन्तीति वयं तवाधुना
पश्याम इत्थं वपुषि ध्रुवं प्रभो ! ॥ ३४ ॥
रुद्राश्च सर्व्वे वसवश्च निर्जरा
आदित्यसंघा मघवा प्रजापतिः ।
विश्वेसुरा वायुरसंख्यकामरा
दैत्या ह्यनन्ताः पितरस्तथर्षयः ॥ ३५ ॥
त्वत्कायजास्त्वां बहुधा यतन्ते
ज्ञातुं परन्ते नहि पारयन्ते ।
अतो विमुग्धास्तव मायया ते
पुनर्विशन्त्येत्य तवैव काये ॥ ३६ ॥
कारणं कारणानां त्वमेवाक्षरं
ब्रह्म विज्ञेयमेकं त्वमेवास्यहो ।
आश्रयस्थानमेकं निधानं परं
विश्वसङ्घस्य जानन्ति ते कोविदाः ॥ ३७ ॥
त्वमव्ययः शाश्वतधर्म्मगोप्ता

प्रकार हम निश्चय इस समय आपके शरीरमें ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति स्थिति और लयके विषयको देख रहे हैं ॥३४॥ एकादश रुद्रगण, द्वादश आदित्यगण, अष्ट वसुदेवतागण, इन्द्र, प्रजापति, विश्वेदेवा, वायु, ये सब असङ्ख्य देवगण, अनन्त ऋषि एवं पितृगण और अनन्त असुरगण सबही आपके शरीरसे प्रकट होकर आपको जाननेकेलिये अनेक प्रकारसे यत्न करते हैं परन्तु वे पार नहीं पाते हैं इसलिये आपकी मायासे विमुग्ध होकर वे फिर भी जाकर आपहीके शरीरमें प्रवेश कर जाते हैं ॥ ३५–३६ ॥ अहो ! आपही कारणोंके कारण हैं, आपही अक्षर (अविनाशी) परब्रह्म हैं और एक आपही जाननेके योग्य हैं, एक आपही विश्वसमूहके आश्रयस्थान और परमरक्षास्थान हैं, इस बातको प्रसिद्ध परिडतगण जानते हैं ॥ ३७ ॥ आप विकार-

सनातनस्त्वं पुरुषो मतो नः ।
प्रभोऽतितेजोमयमादिहीन-
मनन्तमप्येकमनेकवर्णम् ॥ ३८ ॥
अचिन्तनीयं ह्यवितर्कणीयं
किलामितैरङ्गभरैः सुपूर्णम् ।
पश्यन्त आश्चर्य्यकरं प्रदीप्तं
विराट्शरीरं तव विस्मिताः स्मः ॥ ३९ ॥
धृतिन्न विन्दाम इह त्वदीये
कायेऽमितांस्तान्प्रसमीक्ष्य लोकान् ।
प्रसीद देवेश ! जगन्निवास !
त्वमेव नः सम्मत आदिदेवः ॥ ४० ॥
अहो किमाश्चर्य्यमिदं विभाति
क्षुद्रात् समारभ्य तृणादसीम्नः ।
ब्रह्माण्ड-पर्य्यन्तविशालसृष्टेः

रहित हैं, सनातनधर्म्मके रक्षक हैं और आप सनातन पुरुष हैं, यह हमारा मत है । हे प्रभो ! आपके अतितेजोमय, आदिहीन, अनन्त होनेपर भी एक, अनेकवर्ण, अचिन्त्य, अवितर्क्य, अगणित अवयवोंसे पूर्ण, विस्मयकर और देदीप्यमान विराट् शरीरको देखते हुए हम विस्मित हो रहे हैं ॥३८-३९॥ हे जगन्निवास ! हे देवेश ! इस आपके (विराट्) शरीरमें उन अगणित लोकोंको देखकर हम धृतिको लाभ नहीं कर रहे हैं (इसलिये) आप प्रसन्न हों, हमारा मत है कि आप ही आदिदेव हैं ॥ ४० ॥ अहो ! यह क्या चमत्कार शोभायमान हो रहा है । एक क्षुद्र तृणसे लेकर ब्रह्माण्डपर्य्यन्त जो असीम विशाल सृष्टि है उसकी उत्पत्ति, स्थिति और लयकेलिये अनेक

सृष्टिस्थितिप्रत्यवहारहेतोः ॥ ४१ ॥
यथार्भकाः क्रीडनसक्तचित्ता
विमोहितास्तन्मयतामुपेताः ।
अनेकधाऽनेकविधस्वरूपा-
स्तथा पृथक् देवगणा नियुक्ताः ॥ ४२ ॥
स्थूलात्स्थूलतरं नित्यं ज्ञानलोचनगोचरम् ।
अनाद्यन्तं विराड्रूपं दृष्ट्वा ते विभुमद्भुतम् ॥ ४३ ॥
अपिचेत् परमानन्दो जातो नश्चेतसि प्रभो ! ।
न तथापि वयं द्रष्टुं शक्नुयाम बहुक्षणम् ॥ ४४ ॥
जीवानां मनसो बुद्धेर्वाचोऽगोचरमित्यहो ।
अपूर्वं भवतो रूपमालोक्याश्चर्य्यमङ्कुलम् ॥ ४५ ॥
मनो नो मूर्च्छितं बुद्धिः स्थगिता भवति प्रभो ! ।
शैथिल्यं यान्ति हे स्वामिन्निन्द्रियाण्यखिलानि नः ॥ ४६ ॥
अतो वयं हि विश्वात्मन् ! विनीतं प्रार्थयामहे ।

प्रकारसे अनेक प्रकारके रूपवाले देवतागण ऐसे मोहित और तन्मय होकर पृथक् पृथक् नियुक्त हैं जैसे खेलमें आसक्तचित्त बालकगण तन्मय और विमोहित रहते हैं ॥ ४१-४२ ॥ ज्ञानदृष्टिसे देखनेयोग्य, स्थूलातिस्थूल, अनादि, अनन्त, नित्य, अद्भुत और व्यापक आपके विराट्‌रूपका दर्शन करके हे प्रभो ! यदिच हमलोगोंके चित्तमें परमानन्दकी प्राप्ति हुई है परन्तु हमलोग बहुत देरतक इस रूपका दर्शन नहीं कर सकते हैं ॥४३-४४॥ अहो ! जीवोंके वाणी, मन और बुद्धिसे अगोचर इस अपूर्व्व आपके आश्चर्य्यमय रूपको देखकर हे स्वामिन् ! हे प्रभो ! हमारी सब इन्द्रियां शिथिल, मन मूर्च्छित और बुद्धि थकित होती है ॥ ४५-४६ ॥ इस कारण हे विश्वात्मन् ! हमलोगोंकी यह विनीत प्रार्थना है कि हे विभो ! हे नाथ !

त्वद्विभूतिस्वरूपेषु यद्भवन्तं वयं विभो ! ॥ ४७ ॥
देशे काले च सर्वत्र पात्रे द्रष्टुं यथेश्महे ।
उपदिश्यामहे नाथ ! तथोपायं वयं स्वयम् ॥ ४८ ॥

महाविष्णुरुवाच ॥ ४९ ॥

आनन्दः सर्वजीवेषु प्रभाऽस्मि शशिसूर्य्ययोः ।
प्रणवः सर्व्ववेदेषु शब्दः खे चास्मि निर्ज्जराः ! ॥ ५० ॥
वायौ स्पर्शोऽस्मि भो देवाः ! रूपं हुतवहे तथा ।
अप्सु चाहं रसो नूनं सत्यमेतन्न संशयः ॥ ५१ ॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्याञ्च तेजश्चाऽस्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्व्वभूतेषु तपश्चाऽस्मि तपस्विषु ॥ ५२ ॥
वर्णेषु ब्राह्मणो वर्ण आश्रमेष्वन्तिमाश्रमः ।
सतीत्वमार्य्यनारीषु तथास्मि पौरुषं नृपु ॥ ५३ ॥
यावद्देवगणाः सर्व्वे सात्त्विक्यो मे विभूतयः ।

आप ऐसे उपायका स्वयं उपदेश दीजिये कि जिससे हम आपको आपकी विभूतियोंके रूपमें प्रत्येक देश काल पात्रमें दर्शन करनेमें समर्थ होसकें ॥ ४७-४८ ॥

महाविष्णु बोले ॥ ४९ ॥

सब जीवोंमें मैं आनन्द हूं, चन्द्रमा और सूर्य्यमें प्रभा हूं, हे देवगण ! मैं सब वेदोंमें प्रणव और आकाशमें शब्द हूं ॥ ५० ॥ हे देवगण ! मैं वायुमें स्पर्श, अग्निमें रूप और जलमें रस हूं, यह सत्यही है इसमें सन्देह नहीं ॥ ५१ ॥ पृथिवीमें पवित्र गन्ध, अग्निमें तेज, सब भूतोंमें जीवन और तपस्वियोंमें तपोरूप हूं ॥ ५२ ॥ वर्णोंमें ब्राह्मण वर्ण, आश्रमोंमें अन्तिम आश्रम अर्थात् सन्न्यास, आर्य्य-नारियोंमें सतीत्व और पुरुषोंमें पौरुष अर्थात् पुरुषार्थ हूं ॥ ५३ ॥ जितने देवता हैं वे मेरी सात्त्विक विभूतियां हैं और जितने ही असुर

यावन्तस्तेऽसुराश्चैव तामस्यो मे विभूतयः ॥ ५४ ॥
बीजं मां सर्व्वभूतानां वित्त देवाः ! सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ ५५ ॥
बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ।
धर्म्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि विबुधर्षभाः ! ॥ ५६ ॥
अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ ५७ ॥
पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥ ५८ ॥
ज्योतिषामंशुमान् सूर्य्यो वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ ५९ ॥
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चाऽस्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ ६० ॥

हैं वे मेरी तामसिक विभूतियां हैं ॥ ५४ ॥ हे देवगण ! सब भूतोंका सनातन बीज मुझको जानो मैं बुद्धिमानोंमें बुद्धि और तेजस्वियोंमें तेज हूं ॥ ५५ ॥ हे देवश्रेष्ठो ! बलवानोंमें मैं काम और रागसे रहित बल हूं और भूतोंमें धर्म्माविरुद्ध अर्थात् धर्म्मके अनुकूल काम हूं ॥५६॥ मैं क्रतु (श्रौत अग्निष्टोमादि यज्ञ) हूं, मैं यज्ञ (पञ्च महायज्ञादि) हूं, मैं स्वधा हूं, मैं औषध हूँ, मैं मन्त्र हूं, मैं आज्य (घृत) हूँ, मैं अग्नि हूं और मैं आहुति हूं ॥५७॥ इस विश्वका मैं पिता, माता, धाता (धारण और पोषण करने वाला) और पितामह हूं । जाननेके योग्य मैं हूं, पवित्र ओंकार मैं हूँ तथा ऋक् यजुः और साम मैं हूं ॥५८॥ ज्योतियोंमें मैं किरणमाली सूर्य्य हूं, यक्ष रक्षोगणमें वित्तेश (कुबेर) हूं, मरुतोंमें मरीचि हूं और नक्षत्रोंमें मैं शशी (चन्द्रमा) हूँ ॥ ५९ ॥ वेदोंमें सामवेद हूँ, देवताओंमें इन्द्र हूं, इन्द्रियोंमें मन हूं और प्राणि-

आदित्यानामहं विष्णुः वसूनामस्मि पावकः ।
रुद्राणां शङ्करश्चाऽस्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ ६१ ॥
पुरोधसाञ्च मुख्यं मां वित्त देवाः ! बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ ६२ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ ६३ ॥

अश्वत्थः सर्व्ववृक्षाणां देवर्षीणाञ्च नारदः ।
गन्धर्व्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ ६४ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां वित्त माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणाञ्च नराधिपम् ॥ ६५ ॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ ६६ ॥

योंमें चेतना हूं, ॥ ६० ॥ (द्वादश) आदित्योंमें मैं विष्णु हूं, (अष्ट) वसुओंमें पावक हूँ, (एकादश) रुद्रोंमें शङ्कर हूं और पर्वतोंमें मैं मेरु हूं ॥६१॥ हे देवगण ! मुझको पुरोहितोंमें श्रेष्ठ पुरोहित वृहस्पति जानो, सेनानायकोंमें मैं स्कन्द (कार्त्तिकेय) हूँ और जलाशयों में (मैं) सागर हूँ ॥ ६२ ॥ महर्षियोंमें मैं भृगु और वाणियोंमें मैं एक अक्षर अर्थात् ॐकार हूँ, यज्ञोंमें जपयज्ञ हूं और स्थावरोंमें हिमालय हूँ ॥ ६३ ॥ सब वृक्षोंमें अश्वत्थ अर्थात् पीपलका वृक्ष हूं, देवर्षियोंमें नारद हूं, गन्धर्वोंमें चित्ररथ और सिद्धोंमें कपिल मुनि हूं ॥ ६४ ॥ अश्वोंमें मुझको अमृत अर्थात् अमृत जिससे उत्पन्न हुआ है ऐसे समुद्र-से उत्पन्न उच्चैःश्रवा जानो, गजेन्द्रोंमें ऐरावत और मनुष्योंमें नराधिप अर्थात् प्रजाओंको प्रसन्न रखनेवाला नृप जानो ॥ ६५ ॥ मैं वैश्वानरनामक अग्नि होकर प्राणियोंके देहको आश्रय करके प्राण और अपान वायुओंसे युक्त होता हुआ चतुर्विध (लेह्य चूष्य पेय आदि)

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाऽग्नौ तत्तेजो वित्त मामकम् ॥ ६७ ॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्व्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ ६८ ॥
आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चाऽस्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ ६९ ॥
अनन्तश्चाऽस्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
प्रह्लादश्चाऽस्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ॥ ७० ॥
मृगाणाञ्च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ।
पवनः पवनामस्मि दानेष्वभयदानकम् ॥ ७१ ॥
झषाणां मकरश्चाऽस्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ।
पितॄणामर्य्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ ७२ ॥
सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यश्चैवाहमुत्तमाः ! ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ७३ ॥

अन्नोंको पचाता हूं ॥६६॥ जो सूर्य्यगत तेज सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है और जो तेज चन्द्र और अग्निमें है, उस तेजको मेरा तेज समझो ॥ ६७ ॥ मैं पृथ्वीमें प्रवेश करके (अपने) बलसे भूतोंको धारण करता हूं और रसात्मक सोम होकर सब ओषधियोंको पुष्ट करता हूं ॥ ६८ ॥ मैं आयुधोंमें वज्र और धेनुओंमें कामधेनु हूं. (प्रजाओंकी) उत्पत्तिका हेतु काम हूं और सर्पोंमें वासुकि हूं ॥ ६९ ॥ नागोंमें अनन्त हूं, जलचरोंमें मैं (उनका अधिपति) वरुण हूं, दैत्योंमें प्रह्लाद हूं और वशीभूत करनेवालोंमें मैं काल हूं ॥ ७० ॥ पशुओंमें मैं मृगेन्द्र हूं, पक्षियोंमें गरुड़, वेगशालियोंमें पवन और दानोंमें अभयदान हूं ॥ ७१ ॥ मत्स्योंमें मकर, नदियोंमें गङ्गा, पितरोंमें अर्य्यमा और शासकोंमें यम हूं ॥ ७२ ॥ हे श्रेष्ठ देवगण ! सृष्टिका आदि, अन्त और मध्य मैं ही हूं, विद्याओंमें अध्यात्मविद्या और

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥ ७४ ॥
मृत्युः सर्व्वहरश्चाऽहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्त्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥७५॥
बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ७६ ॥
द्यूतं छलयतामस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ७७ ॥
दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवाऽस्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ७८ ॥
यच्चाऽपि सर्व्वभूतानां वीजं तदहमस्मि वै ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ७९ ॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां सुरर्षभाः ! ।

वादियोंमें वाद हूं ॥ ७३ ॥ अक्षरोंमें अकार हूं, समासोंमें द्वन्द्व समास हूं, मैं ही अविनाशी काल हूं और विश्वतोमुख धाता अर्थात् सर्व्वकर्म्मफलप्रदाता हूं ॥ ७४ ॥ मैं सर्वहारी मृत्यु हूं, (उत्पन्न) होनेवालोंका उत्पत्तिस्थान हूं और नारियोंमें कीर्त्ति, श्री और वाक् मैं हूं एवं स्मृति, मेधा, धृति तथा क्षमारूप हूं ॥७५॥ मैं सामवेदकी शाखाओंमें बृहत्साम, छन्दोंमें गायत्री छन्द, मासोंमें मार्गशीर्ष मास और ऋतुओंमें वसन्त ऋतु हूं॥७६॥छलियोंमें द्यूत (जुआ) हूं, पराक्रमियोंमें सत्त्व अर्थात् पराक्रम हूं, मुनियोंमें मैं व्यास हूं और कवियोंमें मैं उशना कवि अर्थात् शुक्र हूं ॥ ७७ ॥ दमनकारियोंमें मैं दण्ड हूं, जयकी इच्छा करनेवालोंमें नीति हूं, गुह्योंमें मौन हूं और मैं ज्ञानियोंमें ज्ञान हूं ॥ ७८ ॥ सब भूतोंका जो बीज है वह मैं ही हूं, ऐसा चराचर भूत कोई नहीं है जो मेरे विना हो अर्थात् मैं सर्व्वत्र व्यापक हूं ॥ ७९ ॥ हे देवश्रेष्ठो ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है, यह

एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ८० ॥
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेव तु जानीत मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ ८१ ॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन हि वोऽमराः ! ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ८२ ॥
अहमात्मा सुपर्वाणः ! सर्व्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यश्च भूतानामन्त एव च ॥ ८३ ॥
गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम ॥ ८४ ॥
सर्व्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च ।
वेदैश्च सर्व्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ ८५ ॥
मनोयोगेन मां देवाः ! मद्विभूतिषु पश्यत ।

बिभूतिविस्तार तो मैंने संक्षेपसे कहा है ॥ ८० ॥ जो जो विभूतियुक्त, श्रीमान् अथवा समुन्नत सत्त्व (प्राणी) है उस उसकोही मेरे तेजके अंशसे उत्पन्न जानो ॥ ८१ ॥ अथवा हे अमरगण ! आपलोगोंको इसके बहुत जाननेसे क्या, मैं एक अंशसे इस सम्पूर्ण जगत्को धारण करके बैठा हूं ॥ ८२ ॥ हे देवगण ! मैं सब प्राणियोंके अन्तः-करणमें स्थित आत्मा हूं और मैं ही प्राणियोंका आदि अन्त तथा मध्य भी हूं ॥ ८३ ॥ गति, भर्त्ता (पालक) प्रभु (नियन्ता) साक्षी (द्रष्टा) निवास (भोग स्थान) शरण (रक्षक) सुहृत् (हितकर्ता) प्रभव (स्रष्टा) प्रलय(संहर्त्ता) स्थान (आधार) और निधान (लयस्थान) तथा अविकारी बीजरूप हूं ॥ ८४ ॥ मैं सबके हृदयमें सन्निविष्ट हूं, मुझसे स्मृति, ज्ञान और इन दोनोंका विलय होता है, सब वेदोंसे जानने योग्य मैंही हूं, वेदान्तकृत् अर्थात् ज्ञान-देनेवाला गुरु और वेदोंको जाननेवाला मैंही हूं ॥ ८५ ॥ हे विज्ञ देवतागण ! मनोयोगसे मेरी विभूतियोंमें मेरा दर्शन करो वा

धीयोगेन निरीक्षध्वं विराड्रूपेऽथवा बुधाः ! ॥ ८६ ॥
ममैवात्मस्वरूपं हि समाधिद्वारतोऽथवा ।
ब्रह्मानन्दप्रपूर्णं तल्लभध्वं सुरसत्तमाः ! ॥ ८७ ॥
येन केन च योगेन पश्यद्भ्यो मां निरन्तरम् ।
दातुं वः परमां शान्तिं सर्वथैवोद्यतोऽस्म्यहम् ॥ ८८ ॥
सर्व्वधर्म्मान् परित्यज्य शरणं यात मां ध्रुवम् ।
अहं वः सर्व्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि नो भयम् ॥ ८९ ॥
अहं हि सर्व्वभूतानां तिष्ठामि हृदयेऽमराः ! ।
भ्रामयन् सर्व्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ९० ॥
मामेव शरणं यात सर्वभावेन निर्ज्जराः ! ।
मत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यथ शाश्वतम् ॥ ९१ ॥

देवा ऊचुः ॥ ९२ ॥

देवादिदेव ! सर्व्वात्मन् ! महाविष्णो ! दयानिधे ! ।

बुद्धियोगसे विराट्रूपमें मेरा दर्शन करो अथवा हे सुरश्रेष्ठो ! समाधिके द्वारा मेरे ब्रह्मानन्दपूर्ण आत्मस्वरूपको प्राप्त हो । ॥ ८६-८७ ॥ जिस किसी प्रकारसे निरन्तर मेरा दर्शन करनेवाले तुम लोगोंको मैं सर्वथाही परम शान्ति देनेको प्रस्तुत हूँ ॥ ८८ ॥ सब धर्म्मोंको छोड़कर निश्चय एकमात्र मेरी शरणागत हो जाओ कुछ भय नहीं है, मैं आपलोगोंको सब पापोंसे मुक्त कर दूंगा ॥८९॥ हे देवगण ! मैं ही यन्त्रारूढ़ सब प्राणियोंको मायासे नचाता हुआ उनके हृदयमें स्थित रहता हूँ ॥ ९० ॥ हे देवगण ! आपलोग सब भावोंसे मेरीही शरणको प्राप्त हों, मेरी कृपासे परम शान्तिको और सनातन स्थानको प्राप्त करोगे ॥ ९१ ॥

देवतागण बोले ॥ ९२ ॥

हे देवादिदेव ! हे जगन्निवास ! हे सर्व्वात्मन् ! हे महाविष्णो !

जगन्निवास ! ते स्वामिन्नपारकृपयाऽधुना ॥ ९३ ॥
मोहतापाविनिर्मुक्ताः सन्तश्च निर्भया वयम् ।
वीतसन्देहसन्दोहाः कृतकृत्या अभूम ह ॥ ९४ ॥
सर्व्वं हि साम्प्रतं विश्वं भाति नः स्वकुटुम्बवत् ।
राक्षसासुरमर्त्याश्च सन्त्यात्मीया हि नोऽधुना ॥ ९५ ॥
साम्यबुद्धौ प्रजातायामेवं नाथ ! प्रतीयते ।
अत एवाम्बिधेदानीमिच्छा नो जायते स्वतः ॥ ९६ ॥
यज्ज्ञानमुपदिष्टं नस्त्वयापारदयावशात् ।
तस्य सर्वेषु लोकेषु प्रचारोऽस्तु निरन्तरम् ॥ ९७ ॥
कर्म्मभूमौ भवेन्नूनं मर्त्यलोके विशेषतः ।
प्रचारः सर्वथा नाथ ! ज्ञानस्यास्य दयाम्बुधे ! ॥ ९८ ॥
यतो मनुष्यलोको नः सम्वृद्धेर्मुख्यकारणम् ।
इदानीं करुणासिन्धो ! बुद्धिर्नः समतां गता ॥ ९९ ॥

हे दयानिधे ! हे स्वामिन् ! अब आपकी अपार कृपासे हमलोग मोह-रहित तापरहित और भयरहित तथा सर्व्वसंशयरहित होकर कृतकृत्य हुए हैं ॥ ९३-९४ ॥ अब समस्त विश्वही कुटुम्बवत् हम लोगोंको प्रतीत होता है, इस समय असुर राक्षस और मनुष्य हमारे आत्मीय हैं ॥ ९५ ॥ हे नाथ ! साम्यबुद्धि उत्पन्न होनेसे हमलोगोंको ऐसा प्रतीत होने लगा है इस कारणही अब हमलोगोंकी स्वतः ऐसी इच्छा हो रही है कि आपने अपार कृपावश जो हम-लोगोंको ज्ञानोपदेश दिया है उसका निरन्तर प्रचार सब लोकोंमें होजाय ॥ ९६-९७ ॥ हे नाथ ! हे दयाम्बुधे ! विशेषतः कर्म्मभूमि मनुष्यलोकमें इस ज्ञानका प्रचार सब प्रकारसे अवश्य हो क्योंकि मनुष्यलोकही हमलोगोंके संवर्द्धनका प्रधान कारण है । हे करुणा सिन्धो ! अब हमलोगोंकी बुद्धि समतामें पहुंच गई है ॥ ९८-९९ ॥

इच्छामो हि वयश्चातो भूतसङ्घं चतुर्विधम् ।
आरभ्य निखिला जीवा देवतासुरमानवाः ॥ १०० ॥
वर्त्तन्तेऽन्ये च ये जीवास्ते सर्व्वे ते समानतः ।
लब्ध्वाऽसीमदयाराशिं कृतकृत्या भवन्त्वलम् ॥ १०१ ॥
ज्ञानमस्याश्च गीतायाः प्राप्य मोदं वहन्तु ते ।
एषैव प्रार्थनाऽस्माकमेतदेवाभिवाञ्छितम् ॥ १०२ ॥

महाविष्णुरुवाच ॥ १०३ ॥

तथाऽस्तु भवतां देवाः ! यथाभिलषितं वरम् ।
प्रार्थितं सर्व्वलोकानां यतो मंगलहेतवे ॥ १०४ ॥
मत्परायणया धृत्या सात्त्विक्या भवतां सुराः ! ।
ज्ञानगर्भितया चैव सात्त्विक्या धर्म्मयुक्तया ॥ १०५ ॥
सर्व्वलोकहितैषिण्या विनीतोदारया तथा ।
प्रार्थनया प्रसन्नोऽस्मि तथेत्यस्तु पुनर्ब्रुवे ॥ १०६ ॥
गीतेयं विष्णुगीतेति नाम्ना ख्याता भविष्यति ।

इस कारण हम इच्छा करते हैं कि चतुर्विध भूतसङ्घसे लेकर मनुष्य, देवता और असुर तथा अन्यान्य जो जीव हैं वे सब आपको अपार कृपापुञ्जको समानरूपसे प्राप्त करके सम्यक् कृतकृत्य होवें ॥ १००-१०१ ॥ और वे इस गीताका ज्ञान पाकर आनन्दित हों, यही हम लोगोंकी प्रार्थना और यही अभिलाषा है ॥ १०२ ॥

महाविष्णु बोले ॥ १०३ ॥

हे देवगण ! आपका अभिलषित वर जैसा है वैसा हो क्योंकि आपने सबलोकोंके मङ्गलार्थ प्रार्थना की है॥१०४॥हे देवगण ! आपलोगोंकी मत्परायण सात्त्विक धृतिसे और सात्त्विकी, ज्ञानसम्पन्ना, धर्म्म-युक्ता,सर्वलोकहितकरी, विनीत और उदार प्रार्थनासे मैं प्रसन्न हुआ हूँ। मैं पुनः कहता हूँ कि ऐसाही हो॥१०५-१०६॥हे देवगण ! यह गीता

मर्त्यलोके पुनश्चास्याः कृष्णरूपेण वै सुराः ! ॥ १०७ ॥
द्वापरान्तेऽवतीर्य्याहं गीताया ज्ञानमुत्तमम् ।
प्रचार्य्य पूरयिष्यामि भवतां शुभकामनाः ॥ १०८ ॥
सर्व्वोपनिषदां सारो वेदनिष्कर्ष एव च ।
योगयुञ्जानचित्तानां गीतेयं ज्ञानवर्त्तिका ॥ १०९ ॥
त्रितापतापितानाञ्च जीवानां परमामृतम् ।
संसारापारपाथोधौ मज्जतां तरणिः परा ॥ ११० ॥
क्षिप्रमाध्यात्मिकस्तापो पठनात्पाठनादपि ।
नश्यत्यस्या न सन्देहस्तथैतद्द्वारतोऽमराः ! ॥ १११ ॥
विश्वम्भराख्ययागस्य विधानेनाधिदैविकः ।
आधिभौतिकतापश्च पाठादस्याः प्रणश्यति ॥ ११२ ॥
अस्याश्च विष्णुगीताया माहात्म्यं महदद्भुतम् ।
गीतेयञ्च मुमुक्षूणामात्मज्ञानमभीप्सताम् ॥ ११३ ॥

विष्णुगीता नामसे प्रख्यात होगी और इस गीताके उत्तम ज्ञानको मैं पुनः द्वापर के अन्तमें मनुष्यलोकमें कृष्णरूपसे अवतीर्ण होकर प्रचारित करके आपकी शुभ कामनाओंको पूर्ण करूंगा ॥१०७-१०८॥ यह गीता सब वेदोंका निष्कर्ष, उपनिषदोंका सार और योगाभ्यास-निरत व्यक्तियोंके लिये ज्ञानप्रदीप है ॥ १०९ ॥ त्रितापतापित जीवों-के लिये यह परम अमृतरूपा है । संसार महासागरमें डूबनेवालोंके लिये उत्तम नौका है ॥ ११० ॥ इसके अध्ययन अध्यापन द्वारा अवश्य आध्यात्मिक ताप शीघ्र नष्ट होता है और इसके द्वारा हे देवगण ! विश्वम्भरयाग करनेसे आधिदैविक ताप और इसके पाठ करने और करानेसे आधिभौतिक ताप नष्ट होता है ॥१११-११२॥ इस विष्णुगीताका माहात्म्य महान् अद्भुत है, यह गीता संसारसे वैराग्यवान् आत्मज्ञानेच्छु मुमुक्षु सन्न्यासियोंके लिये गुरुरूप और मुक्तिप्रद है, ब्रह्मचारी और गृहस्थोंके लिये यह गीता धर्म्म अर्थ

मन्न्यस्तानां विरक्तानां गुरुरूपा च मुक्तिदा ।
गीतेयं ब्रह्मचारिभ्यो गृहस्थेभ्यस्तथैव च ॥ ११४ ॥
धर्म्मार्थकामरूपो यस्त्रिवर्गस्तं हि यच्छति ।
गीतामेताञ्च यः प्राणी स्वाध्यायविधिना पठेत् ॥ ११५ ॥
विदध्याद्विष्णुयज्ञम्वा चैतया विष्णुगीतया ।
सर्वव्याधिविनिर्मुक्तः स सुखी सत्वरं भवेत् ॥ ११६ ॥
यश्चाक्षरमयीमेतां विष्णुगीतां प्रयच्छति ।
सत्पात्रेभ्यः कुलीनेभ्यो विद्वद्भ्यो हि यथाविधि ॥ ११७ ॥
स्वर्गप्राप्तिस्सदा तस्य स्वहस्तामलकायते ।
एषा यस्य गृहे तिष्ठेद्विष्णुगीता सुरर्षभाः! ॥ ११८ ॥
आसुरी भौतिकी तस्य कापि बाधा न जायते ।
यत्रासौ भक्तिभावेन भवने रक्षिता भवेत् ॥ ११९ ॥
नित्यमायतनं तद्धि लक्ष्मीर्नैव विमुञ्चति ।
जानीत निश्चयं देवाः! सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥ १२० ॥
आस्तिको गुरुभक्तश्च देवश्रद्धापरायणः ।

और कामरूपी त्रिवर्ग प्रदान करनेवाली है, जो प्राणी इसका पाठ स्वाध्यायविधिसे करे और इसकेद्वारा विष्णुयज्ञका अनुष्ठान करे तो वह सब प्रकारकी व्याधियोंसे मुक्त होकर शीघ्र सुखी होता है॥११३-११६॥ जो अक्षरमयी (पुस्तकरूप) इस विष्णुगीताको सत्पात्र कुलीन तथा विद्वानोंको यथाविधि दान करता है उसके लिये स्वर्ग-प्राप्ति सदा स्वाधीन है, हे देवश्रेष्ठो! यह विष्णुगीता जिसके घरमें रहती है कोई भी आसुरी और भौतिकी बाधा उसको नहीं होती है, जिस घरमें यह विष्णुगीता भक्तिभावसे सदा सुरक्षित रहती है उस घरको लक्ष्मी कभी नहीं छोड़ती है, हे देवगण! यह तुम निश्चय जानो, मैं यह सत्य सत्य कहता हूं॥ ११७-१२० ॥ जो

शास्त्रेषु दृढ़विश्वासः पवित्रात्मा महामनाः ॥ १२१ ॥
न धर्म्मसम्प्रदायांश्च योऽन्यान् द्वेष्टि कदाचन ।
महोदारः स एवात्र लब्धुं केवलमर्हति ॥ १२२ ॥
विष्णोरुपनिषन्मय्यां गीतायामधिकारिताम् ।
ध्रुवमस्याः तामचारेण लोके शान्तिर्भविष्यति ॥ १२३ ॥

इति श्रीविष्णुगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे देवमहाविष्णुसम्वादे विश्वरूपदर्शनयोगवर्णनं नाम सप्तमोऽध्यायः ।

समाप्तेयं श्रीविष्णुगीता ।

आस्तिक गुरुभक्त और देवताओंमें श्रद्धालु हैं, जिसका शास्त्रोंमें दृढ़ विश्वास है, जो पवित्रात्मा महामना है और जो अन्य धर्म्मसम्प्रदायोंसे कभी द्वेष नहीं करता है एवं जो परमोदार है केवल वही इस उपनिषन्मयी विष्णुगीताका अधिकारी हो सकता है। इस विष्णुगीताके प्रचारसे संसारमें अवश्य शान्ति होगी॥१२१–१२३॥

इस प्रकार श्रीविष्णुगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योगशास्त्रका देवमहाविष्णुसम्वादात्मक विश्वरूपदर्शनयोगवर्णन नामक सप्तम अध्याय समाप्त हुआ ।

यह श्रीविष्णुगीता समाप्त हुई ।

श्रीविश्वनाथो जयति ।

धर्मप्रचारका सुलभ साधन ।

समाजकी भलाई ! मातृभाषाकी उन्नति !!

देशसेवाका विराट् आयोजन !!!

इस समय देशका उपकार किन उपायोंसे हो सकता है ? संसारके इस छोरसे उस छोरतक चाहे किसी चिन्ताशील पुरुषसे यह प्रश्न कीजिये, उत्तर यही मिलेगा कि धर्मभावके प्रचारसे ; क्योंकि धर्मने ही संसारको धारण कर रक्खा है । भारतवर्ष किसी समय संसारका गुरु था, आज वह अधः पतित और दीन हीन दशामें क्यों पच रहा है ? इसका भी उत्तर यही है कि वह धर्मभावको खो बैठा है । यदि हम भारतसे ही पूछें कि तू अपनी उन्नतिके लिये हमसे क्या चाहता है ? तो वह यही उत्तर देगा कि मेरे प्यारे पुत्रो ! धर्मभाव की वृद्धि करो । संसारमें उत्पन्न होकर जो व्यक्ति कुछ भी सत्कार्य करनेके लिये उद्यत हुए हैं, उन्हें इस बातका पूर्ण अनुभव होगा कि ऐसे कार्यों मे कैसे विघ्न और कैसी बाधाएँ उपस्थित हुआ करती हैं । यद्यपि धीर पुरुष उनकी पर्वाह नहीं करते और यथासम्भव उनसे लाभ ही उठाते हैं, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि उनके कार्योंमें उन विघ्न बाधाओंसे कुछ रुकावट अवश्य ही हो जाती है । श्रीभारतधर्म महामण्डलके धर्मकार्यमें इस प्रकार अनेक बाधाएँ होनेपर भी अब उसे जनसाधारणका हित साधन करनेका सर्वशक्तिमान् भगवान्‌ने सुअवसर प्रदान कर दिया है । भारत अधार्मिक नहीं है । हिन्दुजाति धर्म्मप्राण जाति है, उसके रोमरोम में धर्म्मसंस्कार ओतप्रोत हैं। केवल वह अपने रूपको–धर्मभावको–भूल रही है । उसे अपने स्वरूपकी पहिचान करा देना–धर्मभावको स्थिर रखना–ही श्रीभारतधर्ममहामण्डलका एक पवित्र और प्रधान उद्देश्य है । यह कार्य १८ वर्षों से महामण्डल कर रहा है और ज्यों ज्यों उसको अधिक

सुअवसर मिलेगा, त्यों त्यों वह जोर शोर से यह काम करेगा। उसका विश्वास है कि इसी उपायसे देशका सच्चा उपकार होगा और अन्तमें भारत पुनः अपने गुरुत्वको प्राप्त कर सकेगा।

इस उद्देश्य साधनके लिये सुलभ दो ही मार्ग हैं। (१) उपदेशकों द्वारा धर्मप्रचार करना, और (२) धर्मरहस्य सम्बन्धी मौलिक पुस्तकोंका उद्धार व प्रकाश करना। महामण्डल ने प्रथम मार्गका अवलम्बन आरम्भसे ही किया है और अब तो उपदेशक महाविद्यालय स्थापित कर महामण्डलने वह मार्ग स्थिर और परिष्कृत करलिया है। दूसरे मार्गके सम्बन्धमें भी यथायोग्य उद्योग आरम्भसे ही किया जा रहा है। विविध ग्रन्थोंका संग्रह और निर्माण करना, मासिक पत्रिकाओंका सञ्चालन करना, शास्त्रीय ग्रन्थोंका आविष्कार करना, इस प्रकारके उद्योग महामण्डलने किये हैं और उनमें सफलता भी प्राप्त की है; परन्तु अभीतक यह कार्य सन्तोषजनक नहीं हुआ है। महामण्डलने अब इस विभाग को उन्नत करनेका विचार किया है। उपदेशकों द्वारा जो धर्मप्रचार होता है उसका प्रभाव चिरस्थायी होनेके लिये उसी विषयकी पुस्तकोंका प्रचार होना परम आवश्यक है; क्योंकि वक्ता एक दो बार जो कुछ सुना देगा, उसका मनन विना पुस्तकोंका सहारा लिये नहीं हो सकता। इसके सिवा सब प्रकारके अधिकारियोंके लिये एक वक्ता कार्यकारी नहीं हो सकता। पुस्तकप्रचार द्वारा यह काम सहल हो जाता है। जिसे जितना अधिकार होगा, वह उतने ही अधिकारकी पुस्तकें पढ़ेगा और महामण्डल भी सब प्रकारके अधिकारियों के योग्य पुस्तकें निर्माण करेगा। सारांश, देशकी उन्नतिके लिये, भारतगौरवकी रक्षाके लिये और मनुष्योंमें मनुष्यत्व उत्पन्न करनेके लिये महामण्डलने अब पुस्तक प्रकाशन विभागको अधिक उन्नत करनेका विचार किया है और उसकी सर्वसाधारणसे प्रार्थना है कि वे ऐसे सत्कार्यमें इसका हाथ बटावें एवं इसकी सहायता कर अपनी ही उन्नति कर लेनेको प्रस्तुत हो जावें।

श्रीभारतधर्ममहामण्डल के व्यवस्थापक पूज्यपाद श्री १०८ स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजकी सहायतासे काशीके प्रसिद्ध विद्वानोंके द्वारा सम्पादित होकर प्रामाणिक, सुबोध और सुदृश्यरूपसे यह ग्रन्थमाला निकलेगी। ग्रन्थमालाके जो ग्रन्थ छपकर प्रकाशित हो चुके हैं उनकी सूची नीचे प्रकाशित की जाती है।

स्थिर ग्राहकोंके नियम ।

(१) इस समय हमारी ग्रन्थमालामें निम्नलिखित ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं:—

मंत्रयोगसंहिता (भाषानुवाद सहित)	१)
भक्तिदर्शन (भाषाभाष्य सहित)	१)
योगदर्शन (भाषाभाष्य सहित)	२)
नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत	१)
दैवीमीमांसादर्शन प्रथमभाग (भाषाभाष्य सहित)	१॥)
कल्किपुराण (भाषानुवाद सहित)	१)
उपदेश पारिजात (संस्कृत)	॥)
गीतावली	॥)
भारतधर्ममहामण्डल रहस्य	१)
सन्न्यासगीता (भाषानुवाद सहित)	॥।)
गुरुगीता (भाषानुवाद सहित)	=)
धर्मकल्पद्रुम प्रथम खण्ड	२)
,, द्वितीय खण्ड	१॥)
,, तृतीय खण्ड	२)
,, चतुर्थ खण्ड	२)
,, पञ्चम खण्ड	२)
श्रीमद्भगवद्गीता प्रथम खण्ड (भाषाभाष्य सहित)	१)
सूर्य्यगीता (भाषानुवाद सहित)	॥)
शक्तिगीता (भाषानुवाद सहित)	।॥)

(२) इनमें से जो कमसे कम ४) मूल्यकी पुस्तकें पूरे मूल्यमें खरीदेंगे अथवा स्थिर ग्राहक होने का चन्दा १) भेज देंगे उन्हें शेष और आगे प्रकाशित होनेवाली सब पुस्तकें ३/४ मूल्यमें दी जायंगी।

(३) स्थिर ग्राहकोंको मालामें ग्रथित होनेवाली हर एक पुस्तक खरीदनी होगी। जो पुस्तक इस विभाग द्वारा छापी जायगी वह एक विद्वानोंकी कमेटी द्वारा पसन्द करा ली जायगी।

(४) हर एक ग्राहक अपना नम्बर लिखकर या दिखाकर हमारे कार्यालयसे अथवा जहाँ वह रहता हो वहां हमारी शाखा हो तो वहांसे, स्वल्प मूल्य पर पुस्तकें खरीद सकेगा।

(५) जो धर्मसभा इस धर्मकार्य्यमें सहायता करना चाहे और जो सज्जन इस ग्रन्थमालाके स्थायी ग्राहक होना चाहें वे मेरे नाम पत्र भेजनेकी कृपा करें।

गोविन्द शास्त्री दुगवेकर,
अध्यक्ष शास्त्रप्रकाश विभाग।
श्रीभारतधर्म महामण्डल प्रधान कार्य्यालय,
जगत्गंज, बनारस।

इस विभाग द्वारा प्रकाशित समस्त धर्मपुस्तकोंका विवरण।

सदाचारसोपान। यह पुस्तक कोमलमति बालक बालिकाओंकी धर्म्मशिक्षाके लिये प्रथम पुस्तक है। उर्दू और बंगला भाषामें इसका अनुवाद होकर छपचुका है और सारे भारतवर्षमें इसकी बहुत कुछ उपयोगिता मानी गई है। इसकी पांच आवृत्तियां छपचुकी हैं। अपने बच्चोंकी धर्म्मशिक्षाके लिये इस पुस्तकको हर एक हिन्दूको मँगवाना चाहिये। मूल्य -) एक आना।

कन्याशिक्षासोपान। कोमलमति कन्याओंकी धर्म्मशिक्षा देनेके लिये यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। इस पुस्तककी बहुत कुछ प्रशंसा हुई है। इसका बंगला अनुवाद भी छप चुका है। हिन्दूमात्रको अपनी अपनी कन्याओंको धर्म्मशिक्षा देनेके लिये यह पुस्तक मँगवानी चाहिए। मूल्य -)

धर्म्मसोपान। यह धर्म्मशिक्षाविषयक बड़ी उत्तम पुस्तक है। बालकोंको इससे धर्म्मका साधारण ज्ञान भली भांति हो जाता है। यह पुस्तक क्या बालक बालिका, क्या वृद्ध स्त्री पुरुष, सबके लिये बहुत ही उपकारी है। धर्म्मशिक्षा पानेकी इच्छा करनेवाले सज्जन अवश्य इस पुस्तकको मँगावें। मूल्य ।) चार आना।

ब्रह्मचर्य्यसोपान। ब्रह्मचर्य्यव्रतकी शिक्षाके लिये यह ग्रन्थ बहुतही उपयोगी है। सब ब्रह्मचारी आश्रम, पाठशाला और स्कूलोंमें इस ग्रन्थकी पढ़ाई होनी चाहिये। मूल्य ≡)

राजशिक्षासोपान । राजा महाराजा और उनके कुमारों-को धर्म्मशिक्षा देनेके लिये यह ग्रन्थ बनाया गया है। परन्तु सर्व-साधारणकी धर्म्मशिक्षाके लिये भी यह ग्रन्थ बहुतही उपयोगी है। इसमें सनातनधर्म्मके अङ्ग और उसके तत्त्व अच्छी तरह बताये गये हैं। मूल्य ≡) तीन आना।

साधनसोपान । यह पुस्तक उपासना और साधनशैलीकी शिक्षा प्राप्त करनेमें बहुतही उपयोगी है। इसका बंगला अनुवाद भी छपचुका है। बालक बालिकाओंको पहलेहीसे इस पुस्तकको पढ़ाना चाहिये। यह पुस्तक ऐसी उपकारी है कि बालक और वृद्ध समानरूप से इससे साधनविषयक शिक्षा लाभ कर सके हैं।
मूल्य =) दो आना।

शास्त्रसोपान । सनातनधर्म्मके शास्त्रोंका संक्षेप सारांश इस ग्रन्थमें वर्णित है। सब शास्त्रोंका कुछ विवरण समझनेके लिये प्रत्येक सनाननधर्म्मावलम्बीके लिये यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। मूल्य ।) चार आना।

धर्म्मप्रचारसोपान । यह ग्रन्थ धर्म्मोपदेश देनेवाले उपदेशक और पौराणिक पण्डितोंके लिये बहुतही हितकारी है।
मूल्य ≡) तीन आना।

उपरि लिखित सब ग्रन्थ धर्म्मशिक्षाविषयक हैं। इस कारण स्कूल, कालेज व पाठशालाओंको इकट्ठे लेने पर कुछ सुविधा से मिल सकेंगे और पुस्तकविक्रेताओंको इनपर योग्य कमीशन दिया जायगा।

उपदेशपारिजात । यह संस्कृत गद्यात्मक अपूर्व ग्रन्थ है। सनातनधर्म क्या है, धर्मोपदेश किसको कहते हैं, सनातनधर्मके सब शास्त्रों में क्या विषय हैं, धर्म्मवक्ता होनेके लिये किन २ योग्यताओं के होने की आवश्यकता है इत्यादि अनेक विषय इस ग्रन्थ में संस्कृत विद्वान्मात्रको पढ़ना उचित है और धर्म्मवक्ता, धर्म्मोपदेशक, पौराणिक, पण्डित आदिके लिये तो यह ग्रन्थ सब समय साथ रखने योग्य है। मूल्य ॥) आठ आना।

इस संस्कृत ग्रन्थ के अतिरिक्त संस्कृत भाषामें योगदर्शन, सांख्यदर्शन, दैवीमीमांसादर्शन आदि दर्शन सभाष्य, मन्त्रयोग-संहिता, हठयोगसंहिता, लययोगसंहिता, राजयोगसंहिता, हरिहर-

ब्रह्मसामरस्य, योगप्रवेशिका, धर्म्मसुधार, श्रीमधुसूदनसंहिता आदि ग्रन्थ छप रहे हैं और शीघ्रही प्रकाशित होनेवाले हैं।

कल्किपुराण। कल्किपुराणका नाम किसने नहीं सुना है। वर्तमान समयके लिये यह बहुतही हितकारी ग्रन्थ है। विशुद्ध हिन्दी अनुवाद और विस्तृत भूमिका सहित यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। धर्म्मजिज्ञासुमात्रको इस ग्रन्थको पढ़ना उचित है।

मूल्य १) एक रुपया।

योगदर्शन। हिन्दीभाष्य सहित। इस प्रकारका हिन्दी भाष्य और कहीं प्रकाशित नहीं हुआ है। इसका बहुत सुन्दर और परिवर्द्धित नवीन संस्करण भी छपरहा है। मूल्य २) दो रुपया।

नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत। भारत के प्राचीन गौरव और आर्यजातिका महत्त्व जाननेके लिये यह एक ही पुस्तक है।

मूल्य १) एक रुपया।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डलरहस्य। इस ग्रन्थरत्न में सात अध्याय हैं। यथा–आर्यजातिकी दशाका परिवर्त्तन, चिन्ताका कारण, व्याधिनिर्णय, औषधिप्रयोग, सुपथ्यसेवन, बीजरक्षा और महायज्ञ-साधन। यह ग्रन्थरत्न हिन्दूजातिकी उन्नतिके विषयका असाधारण ग्रन्थ है। प्रत्येक सनातनधर्म्मावलम्बीको इसग्रन्थ को पढ़ना चाहिये। द्वितीयावृत्ति छप चुकी है, इसमें बहुतसा विषय बढ़ाया गया है। इस ग्रन्थका आदर सारे भारतवर्षमें समान रूपसे हुआ है। धर्म्म के गूढ़ तत्त्व भी इसमें बहुत अच्छी तरह से बताये गये हैं। इसका बंगला अनुवाद भी छप चुका है। मूल्य १) एक रुपया।

निगमागमचन्द्रिका। प्रथम और द्वितीय भागकी दो पुस्तकें धर्म्मानुरागी सज्जनोंको मिलसकती हैं।

प्रत्येक का मूल्य १) एक रुपया।

पहले के पाँच सालके पांच भागोंमें सनातन धर्म के अनेक गूढ़ रहस्यसम्बन्धीय ऐसे २ प्रबन्ध प्रकाशित हुए हैं कि आजतक वैसे धर्म्मसम्बन्धीय प्रबन्ध और कहीं भी प्रकाशित नहीं हुए हैं जो धर्म के अनेक रहस्य जानकर तृप्त होना चाहें वे इन पुस्तकोंको मगावें। मूल्य पांचों भागों का २॥) रुपया।

भक्तिदर्शन । श्रीशाण्डिल्यसूत्रों पर बहुत विस्तृत हिन्दी भाष्यसहित और एक अति विस्तृत भूमिका सहित यह ग्रन्थ प्रणीत हुआ है। हिन्दीका यह एक असाधारण ग्रन्थ है। ऐसा भक्तिसम्बन्धीय ग्रन्थ हिन्दीमें पहले प्रकाशित नहीं हुआ था। भगवद्भक्तिके विस्तारित रहस्योंका ज्ञान इस ग्रन्थके पाठ करनेसे होता है। भक्तिशास्त्रके समझने की इच्छा रखनेवाले और श्रीभगवान् में भक्ति करने वाले धार्मिकमात्रको इस ग्रन्थ का पढ़ना उचित है। मूल्य १)

गीतावली । इसको पढ़नेसे सङ्गीतशास्त्रका मर्म्म थोड़ेमें ही समझमें आसकेगा। इसमें अनेक अच्छे अच्छे भजनोंका भी संग्रह है। सङ्गीतानुरागी और भजनानुरागियोंको अवश्य इसको लेना चाहिये। मूल्य ॥) आठ आना।

गुरुगीता । इस प्रकारको गुरुगीता आजतक किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुई है। इसमें गुरुशिष्यलक्षण, उपासनाका रहस्य और भेद, मन्त्र हठ लय और राजयोगोंका लक्षण और अङ्ग एवं गुरुमाहात्म्य, शिष्यकर्त्तव्य, परमतत्त्वका स्वरूप और गुरुशब्दार्थ आदि सब विषय स्पष्टरूपसे हैं। मूल और स्पष्ट सरल व सुमधुर भाषानुवाद सहित यह ग्रन्थ छपा है। गुरु और शिष्य दोनोंका उपकारी यह ग्रन्थ है। इसका बंगानुवाद भी छप चुका है।

मूल्य =) दो आनामात्र।

मन्त्रसंयोगसंहिता । योगविषयक ऐसा अपूर्व्व ग्रन्थ आज तक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें मन्त्रयोग के १६ अङ्ग और क्रमशः उनके लक्षण, साधनप्रणाली आदि सब अच्छीतरहसे वर्णन किये गये हैं। गुरु और शिष्य दोनों ही इससे परम लाभ उठा सक्ते हैं। इसमें मन्त्रों का स्वरूप और उपास्यनिर्णय बहुत अच्छा किया गया है घोर अनर्थकारी साम्प्रदायिक विरोधके दूर करनेके लिये यह एकमात्र ग्रन्थ है। इसमें नास्तिकोंके मूर्तिपूजा, मन्त्रसिद्धि आदि विषयोंमें जो प्रश्न होते हैं उनका अच्छा समाधान है।

मूल्य १) एक रुपयामात्र।

तत्त्वबोध । भाषानुवाद और वैज्ञानिक टिप्पणी सहित। यह मूल ग्रन्थ श्रीशङ्कराचार्य कृत है। इसका बंगानुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। मूल्य =) दो आना।

संन्यासगीता । श्रीभारतधर्म्म महामण्डलके द्वारा सन्न्यासियोंके लिये सन्न्यासगीता, साधकों के लिये गुरुगीता और पञ्च उपासकों के लिये पञ्चगीताएँ हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हो रही हैं । इनमें से गुरुगीता, सन्न्यासगीता, सूर्य्यगीता और शक्तिगीता प्रकाशित हो चुकी है, विष्णुगीता, धीशगीता और शम्भुगीता छप रही है । सन्न्यासगीता में सब सम्प्रदायोंके साधु और सन्न्यासियोंके लिये सब जानने योग्य विषय सन्निविष्ट हैं । सन्न्यासिगण इसके पाठ करने से विशेष ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे और अपना कर्त्तव्य जान सकेंगे । गृहस्थोंके लिये भी यह ग्रन्थ धर्म्मज्ञानका भण्डार है ।
मूल्य ।॥) बारह आना ।

दैवीमीमांसा दर्शन प्रथम भाग । वेदके तीन काण्ड हैं । यथाः–कर्म्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड । ज्ञानकाण्डका वेदान्त दर्शन कर्म्मकाण्ड का जैमिनी दर्शन और भरद्वाज दर्शन और उपासनाकाण्ड का यह अङ्गिरा दर्शन है । इसका नाम दैवीमीमांसा दर्शन है । यह ग्रन्थ आज तक प्रकाशित नहीं हुआ था । इसके चार पाद हैं यथाः–प्रथम रसपाद इस पाद में भक्तिका विस्तारित विज्ञान वर्णित है । दूसरा सृष्टि पाद, तीसरा स्थिति पाद और चौथा लयपाद, इन तीनों पादोंमें दैवीमाया, देवताओंके भेद, उपसनाका विस्तारित वर्णन और भक्ति और उपासनासे मुक्तिकी प्राप्तिका सब कुछ विज्ञान वर्णित है इस प्रथम भाग में इस दर्शन शास्त्रके प्रथम दो पाद हिन्दी अनुवाद और हिन्दी भाष्यसहित प्रकाशित हुए हैं । मूल्य १॥) डेढ़ रुपया ।

श्रीभगवद्गीता प्रथमखण्ड । श्रीगीताजीका अपूर्व्व हिन्दी भाष्य यह प्रकाशित हो रहा है । जिसका प्रथम खण्ड, जिसमें प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्याय का कुछ हिस्सा है, प्रकाशित हुआ है । आज तक श्रीगीताजी पर अनेक संस्कृत और हिन्दी भाष्य प्रकाशित हुए हैं परन्तु इस प्रकार का भाष्य आज तक किसी भाषा में प्रकाशित नहीं हुआ है । गीता का अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूतरूपी त्रिविध स्वरूप, प्रत्येक श्लोक का त्रिविधअर्थ और सब प्रकारके अधिकारियोंके समझने योग्य गीता–विज्ञानका विस्तारित विवरण इस भाष्य में मौजूद है । मूल्य) एक रुपया ।

पाँच गीताएँ।

पञ्चोपासनाके अनुसार पांच गीताएं--श्रीविष्णुगीता, श्री-सूर्य्यगीता, श्रीशक्तिगीता, श्रीधीशगीता और श्रीशम्भुगीता-भाषा-नुवाद सहित छपनेको तैयार हैं। इनमें से सूर्य्यगीता और शक्तिगीता छप चुकी है और बाकी गीताएँ छप रही हैं। श्रीभारतधर्म महामण्डल इन पांच गीताओंका प्रकाशन निम्न लिखित उद्देश्योंसे कर रहा है:-१म. जिस साम्प्रदायिक विरोधने उपासकोंको धर्मके नामसे ही अधर्म्म सञ्चित करनेकी अवस्थामें पहुंचा दिया है. जिस साम्प्र-दायिक विरोधने उपासकोंको अहंकार त्यागी होनेके स्थानमें घोर साम्प्रदायिक अहंकारसम्पन्न बना दिया है, भारतकी वर्तमान दुर्दशा जिस साम्प्रदायिक विरोधका प्रत्यक्ष फल है और जिस साम्प्रदायिक विरोधने साकार-उपासकोंमें घोर द्वेषदावानल प्रज्वलित कर दिया है उस साम्प्रदायिक विरोधका समूल उन्मू-लन करना और २य, उपासनाके नामसे जो अनेक इन्द्रियासक्ति-की चरितार्थताके घोर अनर्थकारी कार्य होते हैं उनका समाज में अस्तित्व न रहने देना तथा ३य, समाज में यथार्थ भगवद्भक्ति-के प्रचार द्वारा इहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदय तथा निःश्रे-यस प्राप्तिमें अनेक सुविधाओंका प्रचार करना। इन पांचों गीता-ओंमें अनेक दार्शनिक तत्त्व, अनेक उपासनाकाण्डके रहस्य और प्रत्येक उपास्य देवकी उपासनासे सम्बन्ध रखनेवाले विषय सुचारुरूपसे प्रतिपादित किये गये हैं। ये पांचों गीताएं उप-निषद्रूप हैं। प्रत्येक उपासक अपने उपास्यदेवकी गीतासे तो लाभ उठावेगाही, किन्तु, अन्य चार गीताओंके पाठ करनेसे भी वह अनेक उपासनातत्त्वोंको तथा अनेक वैज्ञानिक रहस्योंको अवगत हो सकेगा और उसके अन्तःकरणमें प्रचलित साम्प्र-दायिक ग्रन्थोंसे जैसा विरोध उदय होता है वैसा नहीं होगा और वह परम शान्तिका अधिकारी हो सकेगा। पाठक सूर्य्यगीता और शक्तिगीताको मंगाकर देख सकते हैं। ये छप चुकी हैं और इनका मूल्य क्रमशः ॥) और ॥।) है। इनमें एक एक तीन रंगा सूर्य्यदेव और भगवतीका चित्र भी दिया गया है। अन्य गीताओं में भी इसी प्रकारके चित्र रहेंगे और शीघ्र ही वे सब प्रकाशित

होंगी । उनका मूल्यः-श्रीशम्भुगीता का ।।।) विष्णु गीताका ॥। और धीशगीताका ॥) रक्खा गया है ।

मैनेजर,
निगमागम बुकडीपो,
महामण्डलभवन,
जगत्‌गंज, बनारस ।

धार्म्मिक विश्वकोष ।

(श्रीधर्म्मकल्पद्रुम)

यह हिन्दू धर्म्मका अद्वितीय और परमावश्यक ग्रन्थ है । हिन्दू जाति की पुनरुन्नति के लिये जिन जिन आवश्यकीय विषयों की जरूरत है उनमें सब से बड़ी भारी ज़रूरत एक ऐसे धर्म्म ग्रन्थकी थी कि, जिसके अध्ययन-अध्यापन के द्वारा सनातन धर्म का रहस्य और उसका विस्तृत स्वरूप तथा उसके अङ्ग उपाङ्गों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सके और साथ ही साथ वेदों और सब शास्त्रोंका आशय तथा वेदों और सब शास्त्रोंमें कहे हुए विज्ञानों का यथाक्रम स्वरूप जिज्ञासुको भलीभाँति विदित हो सके । इसी गुरुतर अभावको दूर करनेके लिये भारतके प्रसिद्ध धर्मवक्ता और श्रीभारतधर्म्म महामण्डलस्थ उपदेशक-महाविद्याल के दर्शन शास्त्रके अध्यापक श्रीमान् स्वामी दयानन्दजीने इस ग्रन्थका प्रणयन करना प्रारम्भ किया है । इसमें वर्त्तमान समय के आलोच्य सभी विषय विस्तृतरूपसे दिये जायंगे । अबतक इसके पांच खण्डों-में जो अध्याय प्रकाशित हुए हैं, वे ये हैंः--धर्म्म, दानधर्म्म, तपो-धर्म्म, कर्मयज्ञ, उपासनायज्ञ, ज्ञानयज्ञ, महायज्ञ, वेद, वेदाङ्ग, दर्शनशास्त्र (वेदोपाङ्ग), स्मृतिशास्त्र, पुराणशास्त्र, तन्त्र शास्त्र, उपवेद, ऋषि और पुस्तक, साधारण धर्म्म और विशेष धर्म्म, वर्णधर्म्म, आश्रमधर्म्म, नारीधर्म (पुरुषधर्म्मसे नारीधर्मकी विशेषता), आर्य-जाति, समाज और नेता, राजा और प्रजाधर्म्म, प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्तिधर्म, आपद्धर्म, भक्ति और योग, मन्त्रयोग, हठयोग, लय-योग, राजयोग, गुरु और दीक्षा, वैराग्य और साधन, आत्म

तत्त्व, जीवतत्त्व, प्राण और पीठतत्त्व, सृष्टि स्थिति प्रलयतत्त्व, ऋषि देवता और पितृतत्त्व, एवं अवतारतत्त्व। आगेके खण्डोंमें प्रकाशित होने वाले अध्यायोंके नाम ये हैं:–त्रिभावतत्त्व, मायातत्त्व, मुक्तितत्त्व, दर्शन समीक्षा, साधनसमीक्षा, सम्प्रदाय और उपधर्म-समीक्षा, चतुर्दशलोकसमीक्षा, काल-समीक्षा, जीवन्मुक्ति-समीक्षा, सदाचार, पञ्च महायज्ञ, आह्निककृत्य, षोडश संस्कार, श्राद्ध, प्रेतत्व और परलोक, सन्ध्या-तर्पण, ओंकार-महिमा और गायत्री, भगवन्नाम माहात्म्य, वैदिक मन्त्रों और शास्त्रोंका अपलाप, तीर्थ-महिमा, सूर्य्यादिग्रह-पूजा, गोसेवा, संगीत-शास्त्र, देश और धर्म सेवा इत्यादि इत्यादि। इस ग्रन्थसे आजकलके अशास्त्रीय और विज्ञान-रहित धर्म्मग्रन्थों और धर्म्मप्रचारके द्वारा जो हानि हो रही है वह सब दूरहोकर यथार्थ रूपसे सनातन वैदिक धर्म्म-का प्रचार होगा। इस ग्रन्थरत्नमें साम्प्रदायिक पक्षपात का लेश-मात्र भी नहीं है और निष्पक्षरूपसे सब विषय प्रतिपादित किये गये हैं, जिससे सकल प्रकारके अधिकारी कल्याण प्राप्त कर सकें। इसमें और भी एक विशेषता यह है कि हिन्दूशास्त्रके सभी विज्ञान शास्त्रीय प्रमाणों और युक्तियों के सिवाय, आजकलकी पदार्थ विद्या (Science) के द्वारा भी प्रतिपादित किये गये हैं जिससे आज कलके नवशिक्षित पुरुष भी इससे लाभ उठा सकें। इसकी भाषा सरल, मधुर और गम्भीर है। यह ग्रन्थ चौसठ अध्यायों और आठ समुल्लासोंमें पूर्ण होगा और यह वृहत् ग्रन्थ रायल साइज के चार हजार पृष्ठोंसे अधिक होगा तथा दस या बारह खण्डों में प्रकाशित होगा। इसी के साथ अन्तिम खण्डमें आध्यात्मिक शब्दकोष भी प्रकाशित करनेका विचार है।

इसके पाँच खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम खण्डका मूल्य २), द्वितीय का १॥), तृतीयका २), चतुर्थ का २) और पंचमका २) है। इसके प्रथम दो खण्ड बढ़िया कागज पर भी छापे गये हैं और दोनों ही एक बहुत सुन्दर जिल्दमें बांधे गये हैं। मूल्य ५) है। छठा खण्ड यन्त्रस्थ है।

मैनेजर,
निगमागम बुकडीपो,
महामण्डलभवन,
जगत्गंज, बनारस।

अंग्रेजीभाषा के धर्म्मग्रन्थ ।

श्री भारतधर्म्म महामण्डल शास्त्र प्रकाश विभाग द्वारा प्रकाशित सब संहिताओं,गीताओं और दार्शनिक ग्रन्थोंका अंग्रेजी अनुवाद तयार हो रहा है जो क्रमशः प्रकाशित होगा । सम्प्रति अंग्रेजी भाषा में एक ऐसा ग्रन्थ छप रहा है कि जिसके द्वारा सब अंग्रेजीपढ़े व्यक्तियोंको सनातन धर्म्मका महत्त्व, उसका सर्वजीवहितकारी स्वरूप, उसके सब अङ्गोंका रहस्य, उपासनातत्त्व, योगतत्त्व, काल और सृष्टितत्त्व, कर्म्मतत्त्व, वर्णाश्रमधर्म्मतत्त्व इत्यादि सब बड़े बड़े विषय अच्छी तरह समझमें आजावें । यह ग्रन्थ बहुत शीघ्रही प्रकाशित होजायगा ।

मैनेजर
निगमागम बुकडीपो
महामण्डलभवन
जगत्गंज, बनारस

विविध विषयोंकी पुस्तकें ।

पारिवारिक प्रबन्ध १) आचारप्रबन्ध १) असभ्यरमणी =) धनुर्वेद-संहिता ।) ग्वीसेफ मेजिनी ।) परशुराम संवाद)। शस्त्रीजीके दो व्याख्यान ॥=) अनार्य्यसमाज रहस्य ≋) प्रयाग महात्म्य ॥=) अर्जुनगीता -) दानलीला)। हनुमान चलीसा)। भर्तृहरिचरित्र)। रामगीता ≋) भजन गोरक्षाप्रकाश मञ्जरी)॥ बारहमासी -) मानस मञ्जरी ।) मूर्तिपूजा ।=) वारेन्हेस्टिङ्गकी जीवनी १) इङ्गलिश ग्रामर ।) पहिली किताब)॥ उपन्यास कुसुम ≋) बालिका प्रबोधिनी -)॥ वैष्णवरहस्य)॥ दुर्गेशनन्दिनी प्रथम भाग ।=) दुर्गेशनन्दिनी द्वितीय भाग ।=) नवीन रत्नाकर भजनावली)। आदर्शहिन्दू रमणी ।) कार्तिकप्रसादकी जीवनी =) किसान विद्या ।) प्रवासी =) वसन्त-शृङ्गार ≋) बालहित -)॥ मेगास्थनीजका भारतवर्षीय वर्णन ॥=) सदाचार =) होलीका रहस्य -) क्षत्रियहितैषिणी -) गोवंशचिकित्सा ।) गोगीतावली -) वीरबाला ॥।) हमारा सनातनधर्म्म)। वैयाकरण भूषण ॥) त्रैमाषिक व्याकरण ।) राजशिक्षा १) मङ्गलदेवप-

राजय =) भाषावाल्मीकीय रामायण १।) झांसीकी रानी।) कल्कि पुराण उर्दू ॥) सिद्धान्त कौमुदी २) राशिमाला)॥ सिद्धान्तपटल ≈) सारमञ्जरी ।) सिकन्दरकी जीवनी ॥) योगामृततरङ्गिणी)॥ यजुर्वेदीय संध्या)॥

नोट-पचीस रुपयोंसे अधिककी पुस्तकें खरीदनेवालेको योग्य कमीशन भी दिया जायगा ।

शीघ्र छपने योग्य ग्रन्थ। हिन्दी साहित्यकी पुष्टिके अभिप्रायसे तथा धर्म्मप्रचारकी शुभ वासना से निम्नलिखित ग्रन्थ क्रमशः हिन्दी अनुवाद सहित छपनेको तयार हैं। यथाः-भाषाअनुवाद सहित विष्णुगीता शम्भुगीता धीशगीता और हठयोग संहिता, योग दर्शनके भाषाभाष्यका नवीन संस्करण, भरद्वाजकृत कर्म्ममीमांसा-दर्शनके भाषाभाष्यका प्रथम खण्ड और सांख्यदर्शनका भाषाभाष्य।

मैनेजर, निगमागम बुकडीपो,

महामण्डलभवन, जगत्‌गंज, बनारस।

श्रीमहामण्डलके प्रधान पदधारीगण।

प्रधान सभापतिः—

श्रीमान् महाराजा बहादुर दरभंगा।

सभापति प्रतिनिधिसभाः—

श्रीमान् महाराजा बहादुर काश्मीर।

उपसभापति प्रतिनिधिसभाः—

श्रीमान् महाराजा बहादुर टीकमगढ़।

सभापति मन्त्रीसभाः—

श्रीमान् महाराजा बहादुर गिद्धौड़।

प्रधानाध्यक्षः—

पण्डित रामचन्द्र नायक कालिया

जमीन्दार व आनरेरी मेजिष्ट्रेट बनारस।

अन्यान्य समाचार जाननेका पता-

जनरल सेक्रेटरी

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल, महामण्डलभवन,

जगत्‌गंज, बनारस।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलके
सभ्यगण और मुखपत्र।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल प्रधान कार्य्यालय काशी से एक हिन्दी भाषाका और दूसरा अंग्रेजी-भाषाका, इस प्रकार दो मासिक पत्र प्रकाशित होते हैं एवं श्रीमहामण्डलके अन्यान्य भाषाओंके मुखपत्र श्रीमहामण्डलके प्रान्तीय कार्यालयोंसे प्रकाशित होते हैं। यथाः-कलकत्तेके कार्य्यालयसे बङ्गला भाषाका मुखपत्र, फीरोजपुर (पञ्जाब) के कार्य्यालयसे उर्दू-भाषाका मुखपत्र, मेरठके कार्य्यालयसे हिन्दीभाषाका मुखपत्र और दिल्लीके कार्य्यालयसे हिन्दी-भाषाका मुखपत्र इत्यादि।

श्रीमहामण्डलके पांच श्रेणीके सभ्य होते हैं। यथाः-स्वाधीन नरपति और प्रधान-प्रधान धर्म्माचार्य्यगण संरक्षक होते हैं। भारतवर्षके सब प्रान्तोंके बड़े बड़े ज़मींदार, सेठ, साहुकार आदि सामाजिक नेतागण उस उस प्रान्तके चुनावके द्वारा प्रतिनिधि-सभ्य चुने जाते हैं। प्रत्येक प्रान्तके अध्यापक ब्राह्मणगणमें से उस उस प्रान्तीय मण्डलके द्वारा चुने जाकर धर्म्मव्यवस्थापक सभ्य बनाये जाते हैं। भारतवर्षके सब प्रान्तोंसे पांच प्रकारके सहायक सभ्य लिये जाते हैं: विद्यासम्बन्धी कार्य्य करनेवाले सहायक सभ्य, धर्म्म कार्य्य करनेवाले सहायक सभ्य, महामण्डल प्रान्तीय मण्डल और शाखासभाओंको धनदान करनेवाले सहायक सभ्य, विद्यादान करनेवाले विद्वान् ब्राह्मण सहायक सभ्य और धर्म्मप्रचार करनेवाले साधु संन्यासी सहायक सभ्य। पांचवीं श्रेणीके सभ्य साधारण सभ्य होते हैं जो हिन्दूमात्र हो सकते हैं। हिन्दू-कुलकामिनीगण केवल प्रथम तीन श्रेणीकी सहायक-सभ्या और साधारण सभ्या हो सकती हैं। इन सब प्रकारके सभ्यों और श्रीमहामण्डलके प्रान्तीय मण्डल, शाखासभा और संयुक्त-सभाओंको श्रीमहामण्डलका हिन्दी अथवा अंग्रेज़ी भाषाका मासिक पत्र विना मूल्य दिया जाता है। नियमितरूपसे नियत वार्षिक चन्दा २) दो रुपये देनेपर हिन्दू नरनारी साधारण सभ्य हो सकते हैं। साधारण सभ्योंको विना मूल्य मासिक पत्रिका के अतिरिक्त उनके उत्तराधिकारियोंको समाजहितकारी कोषके द्वारा विशेष लाभ मिलता है।

प्रधानाध्यक्ष, श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल, प्रधानकार्य्यालय,
जगत्गंज, बनारस।

श्रीविश्वनाथ-अन्नपूर्णा-दानभण्डार ।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल प्रधान कार्य्यालय काशी में दीनदुखियोंके क्लेश निवारणार्थ यह सभा स्थापित की गई है। इस सभाके द्वारा अतिविस्तृत रीति पर शास्त्रप्रकाशनका कार्य्य प्रारम्भ किया गया है। इस सभाके द्वारा धर्म्मपुस्तिका पुस्तकादिका यथासम्भव विना मूल्य वितरण करनेका भी विचार रक्खा गया है। इस दानभाण्डारके द्वारा महामण्डल द्वारा प्रकाशित तत्त्वबोध, साधुओंका कर्त्तव्य, धर्म्म और धर्म्माङ्ग, दानधर्म्म, नारीधर्म्म, महामण्डलकी आवश्यकता आदि कई एक हिन्दीभाषाके धर्म्मग्रन्थ और अंग्रेजीभाषाके कई एक ट्रैक्स विना मूल्य योग्य पात्रोंको बांटे जाते हैं । पत्राचार करनेपर विदित हो सकेगा। शास्त्रप्रकाशनकी आमदनी इसी दानभाण्डारमें दीन दुःखियोंके दुःखमोचनार्थ व्यय की जाती है। इस सभामें जो दान करना चाहें या किसी प्रकारका पत्राचार करना चाहें वे निम्नलिखित पते पर पत्र भेजें।

सेक्रटरी, श्रीविश्वनाथ-अन्नपूर्णा-दानभाण्डार,
श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल, प्रधान कार्य्यालय,
जगतगंज, बनारस (छावनी)।

श्रीमहामण्डलस्थ उपदेशक-महाविद्यालय ।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल प्रधानकार्यालय काशी में साधु और गृहस्थ धर्म्मवक्ता प्रस्तुत करनेके अर्थ श्रीमहामण्डल-उपदेशक-महाविद्यालय नामक विद्यालय स्थापित हुआ है। जो साधुगण दार्शनिक और धर्म्मसम्बन्धी ज्ञानलाभ करके अपने साधु-जीवनको कृतकृत्य करना चाहें और जो विद्वान् गृहस्थ धार्मिक शिक्षा लाभ करके धर्म्मप्रचार द्वारा देशकी सेवा करते हुए अपना जीवन निर्व्वाह करना चाहें वे निम्नलिखित पते पर पत्र भेजें।

प्रधानाध्यक्ष, श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल प्रधान कार्य्यालय,
जगतगंज, बनारस (छावनी)।

श्रीअन्नपूर्णा-स्त्री-शिक्षालय ।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल तथा श्रीआर्य्य-महिलाहितकारिणी महापरिषद्की पृष्ठपोषकतामें यह शिक्षालय स्थापित हुआ है। इसमें ब्राह्मणी स्त्रियोंको धर्म-शिक्षा और धर्मवक्तृता देनेकी उपयोगिनी शिक्षा दी जाती है। योग्य पात्रियोंको इस संस्थासे नियमित मासिक वृत्ति भी दी जाती है। उनके रहनेका स्थान स्वतन्त्र है। श्रीमहामण्डलस्थ उपदेशक-महाविद्यालयके योग्य अध्यापकोंके द्वारा उनको शिक्षा दिलायी जाती है। पत्र-व्यवहारका पताः-

अध्यक्ष, श्रीअन्नपूर्णा-स्त्री-शिक्षालय,
मार्फत श्रीमहामण्डल कार्यालय जगतगञ्ज बनारस।

श्रीमहामण्डलके सभ्योंको विशेष सुविधा।

हिन्दू समाज की एकता और सहायताके लिये विराट् आयोजन।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल हिन्दू जातिकी अद्वितीय धर्म्ममहासभा और हिन्दू समाजकी उन्नति करनेवाली भारतवर्षके सकल प्रान्तव्यापी संस्था है। श्रीमहामण्डलके सभ्य महोदयोंको केवल धर्म्मशिक्षा देना ही इसका लक्ष्य नहीं है; किन्तु हिन्दू समाजकी उन्नति, हिन्दूसमाजकी दृढ़ता और हिन्दू समाज में पारस्परिक प्रेम व सहायताकी वृद्धि करना भी इसका प्रधान लक्ष्य है इस कारण निम्नलिखित नियम श्रीमहामण्डलकी प्रबन्ध-कारिणी सभाने बनाये हैं। इन नियमोंके अनुसार जितने अधिक संख्यक सभ्य महामण्डलमें सम्मिलित होंगे उतनी ही अधिक सहायता महामण्डलके सभ्य महोदयोंको मिल सकेगी। ये नियम ऐसे सुगम और लोकहितकर बनाये गये हैं कि श्रीमहामण्डलके जो सभ्य होंगे उनके परिवारको बड़ी भारी एककालिक दानकी सहायता प्राप्त हो सकेगी। वर्त्तमान हिन्दूसमाज जिस प्रकार दरिद्र होगया है उसके अनुसार श्रीमहामण्डलके ये नियम हिन्दू समाजके लिये बहुत ही हितकारी हैं इसमें सन्देह नहीं।

श्रीमहामण्डलके मुखपत्रसम्बन्धी उपनियम।

(१) धर्म्मशिक्षाप्रचार, सनातनधर्मचर्चा, सामाजिकउन्नति, सद्विद्याविस्तार, श्रीमहामण्डलके कार्य्योंके समाचारोंकी प्रसिद्धि और सभ्योंको यथासम्भव सहायता पहुँचाना आदि लक्ष्य रख कर श्रीमहामण्डलके प्रधान कार्य्यालय द्वारा भारत के विभिन्न प्रान्तों-में प्रचलित देशभाषाओंमें मासिक पत्र नियमितरूपसे प्रचार किये जायँगे।

(२) अभी केवल हिन्दी और अँग्रेजी—इन दो भाषाओंके दो मासिक पत्र प्रधान कार्य्यालयसे प्रकाशित हो रहे हैं। यदि इन नियमोंके अनुसार कार्य्य करने पर विशेष सफलता और सभ्योंकी विशेष इच्छा पाई जायगी तो भारत के विभिन्न प्रान्तोंकी देश-भाषाओंमें भी क्रमशः मासिक पत्र प्रकाशित करनेका विचार रक्खा गया है। इन मासिक पत्रोंमेंसे प्रत्येक मेम्बरको एक एक मासिक पत्र, जो वे चाहेंगे, विना मूल्य दिया जायगा। कमसे कम दो हजार सभ्य महोदयगण जिस भाषाका मासिक पत्र चाहेंगे, उसी भाषामें मासिक पत्र प्रकाशित करना आरम्भ कर दिया जायगा: परन्तु जबतक उस भाषाका मासिक पत्र प्रकाशित न हो तब तक श्रीम-हामण्डलका हिन्दी अथवा अंगरेजीका मासिक पत्र विना मूल्य दिया जायगा।

(३) श्रीमहामण्डलके साधारण सभ्योंको वार्षिक दो रुपये चन्दा देने पर इन नियमोंके अनुसार सब सुविधाएँ प्राप्त होंगी। श्रीमहामण्डलके अन्य प्रकारके सभ्य जो धर्म्मोन्नति और हिन्दू-समाजकी सहायताके विचारसे अथवा अपनी सुबिधाके विचारसे इस विभागमें स्वतन्त्र रीतिसे कमसे कम २) दो रुपये वार्षिक नियमित चन्दा देंगे वे भी इस कार्य्यविभागकी सब सुबिधाएँ प्राप्त कर सकेंगे।

(४) इस विभागके रजिस्टर दर्ज सभ्योंको श्रीमहामण्डलके अन्य प्रकारके सभ्योंकी रीतिपर श्रीमहामण्डलसे सम्बन्धयुक्त सब पुस्तकादि अपेक्षाकृत स्वल्प मूल्यपर मिला करेंगी।

समाजहितकारी कोष।

(यह कोष श्रीमहामण्डलके सब प्रकारके सभ्योंके—जो इसमें सम्मिलित होंगे—निर्वाचित व्यक्तियोंको आर्थिक सहायताके लिये खोला गया है)

(५) जो सभ्य नियमित प्रतिवर्ष चन्दा देते रहेंगे उनके देहान्त होने पर जिनका नाम वे दर्ज करा जायँगे, श्रीमहामण्डलके इस कोष द्वारा उनको आर्थिक सहायता पहुँचेगी।

(६) जो मेम्बर कमसे कम तीन वर्ष तक मेम्बर रहकर लोकान्तरित हुए हों, केवल उन्हींके निर्वाचित व्यक्तियोंको इस समाज हितकारी कोषकी सहायता प्राप्त होगी, अन्यथा नहीं दी जायगी।

(७) यदि कोई सभ्य महोदय अपने निर्वाचित व्यक्तिके नामको श्रीमहामण्डलप्रधानकार्यालयके रजिस्टरमें परिवर्त्तन कराना चाहेंगे तो ऐसा परिवर्त्तन एक वार विना किसी व्ययके किया जायगा। उसके बाद वैसा परिवर्तन पुनः कराना चाहें तो ।) भेजकर परिवर्त्तन करा सकेंगे

(८) इस विभागमें साधारण सभ्य और इस कोषके सहायक अन्यान्य सभ्योंकी ओरसे प्रतिवर्ष जो आमदनी होगी उसका आधा अंश श्रीमहामण्डलके छपाई-विभागको मासिक पत्रोंकी छपाई और प्रकाश आदि कार्य्यके लिये दिया जायगा। बाकी आधा रुपया एक स्वतन्त्र कोषमें रक्खा जायगा। जिस कोषका नाम " समाजहितकारी कोष " होगा।

(९) " समाजहितकारी कोष " का रुपया बैंक ऑफ बंगाल अथवा ऐसे ही विश्वस्त बैंकमें रक्खा जायगा।

(१०) इस कोषके प्रबन्धके लिये एक ख़ास कमेटी रहेगी।

(११) इस कोषकी आमदनीका आधा रुपया प्रतिवर्ष इस कोषके सहायक जिन मेम्बरोंकी मृत्यु होगी, उनके निर्वाचित व्यक्तियोंमें समानरूपसे बाँट दिया जायगा।

(१२) इस कोषमें बाकी आधे रुपयोंके जमा रखनेसे जो लाभ होगा, उससे श्रीमहामण्डलके कार्यकर्ताओं तथा मेम्बरोंके क्लेशका विशेष कारण उपस्थित होनेपर उन क्लेशोंको दूर करनेके लिये कमेटी व्यय कर सकेगी।

(१३) किसी मेम्बरकी मृत्यु होनेपर वह मेम्बर यदि किसी महामण्डलकी शाखासभाका सभ्य हो अथवा किसी शाखासभाके निकटवर्ती स्थानमें रहनेवाला हो तो उसके निर्वाचित व्यक्तिका फ़र्ज होगा कि वह उक्त शाखासभाकी कमेटीके मन्तव्यकी नकल श्रीमहामण्डल प्रधान कार्य्यालयमें भिजवावे। इस प्रकारसे शाखा-सभाके मन्तव्यकी नकल आने पर कमेटी समाजहितकारी कोषसे सहायता देनेके विषयमें निश्चय करेगी।

(१४) जहाँ कहीं के सभ्योंको इस प्रकारकी शाखासभाकी सहायता नहीं मिल सकती है या जहाँ कहीं निकट शाखासभा नहीं है ऐसी दशामें उस प्रान्तके श्रीमहामण्डलके प्रतिनिधियोंमेंसे किसीके अथवा किसी देशी रजवाड़ोंमें हों तो उक्त दर्बारके प्रधान कर्म्मचारीके सार्टिफिकिट मिलनेपर सहायता देनेका प्रबन्ध किया जायगा।

(१५) यदि कमेटी उचित समझेगी तो वालावाला खबर मंगाकर सहायताका प्रबन्ध करेगी जिससे कार्य्यमें शीघ्रता हो।

अन्यान्य नियम।

(१६) महामण्डलके अन्य प्रकारके सभ्योंमेंसे जो महाशय हिन्दू समाजकी उन्नति और दरिद्रोंकी सहायताके विचारसे इस कोषमें कमसे कम २) दो रुपया सालाना सहायता करने पर भी इस फण्डसे फायदा उठाना नहीं चाहेंगे वे इस कोषके परिपोषक समझे जायेंगे और उनकी नामावली धन्यवाद सहित प्रकाशित की जायगी।

(१७) हरएक साधारण मेम्बरको—चाहे स्त्री हो या पुरुष—प्रधान कार्यालयसे एक प्रमाणपत्र जिसपर पञ्चदेवताओंकी मूर्ति और कार्यालयकी मुहर होगी—साधारण मेम्बरके प्रमाणरूपसे दिया जायगा।

(१८) इस विभागमें जो चन्दा देंगे उनका नाम नम्बर सहित हर वर्ष रसीदके तौर पर वे जिस भाषाका मासिक पत्र लेंगे उसमें छापा जायगा। यदि गल्तीसे किसीका नाम न छपे तो उनका फ़र्ज होगा कि प्रधान कार्य्यालयमें पत्र भेजकर अपना नाम छपवावें; क्योंकि यह नाम छपना ही रसीद समझी जायगी।

(१६) प्रतिवर्ष का चन्दा २) मेम्बर महाशयोंको जनवरी महीनेमें आगामी भेज देना होगा। यदि किसी कारण विशेषसे जनवरीके अन्ततक रुपया न आवे तो और एक मास अर्थात् फरवरी मास तक अवकाश दिया जायगा और इसके बाद अर्थात् मार्च महीनेमें रुपया न आनेसे मेम्बर महाशयका नाम काट दिया जायगा और फिर वे इस समाजहितकारी कोष से लाभ नहीं उठा सकेंगे।

(२०) मेम्बर महाशयका पूर्व नियमके अनुसार नाम कट जानेपर यदि कोई असाधारण कारण दिखाकर वे अपना हक़ साबित रखना चाहेंगे तो कमेटीको इस विषयमें विचार करनेका अधिकार मई मासतक रहेगा और यदि उनका नाम रजिस्टरमें पुनः दर्ज किया जायगा तो उन्हें ।) हर्जाना समेत चन्दा अर्थात् २।) देकर नाम दर्ज़ करालेना होगा।

(२१) वर्ष के अन्दर जब कभी कोई नये मेम्बर होंगे तो उनको उस सालका पूरा चन्दा देना होगा । वर्षारम्भ जनवरीसे समझा जायगा।

(२२) हरसाल के मार्च मास में परलोकगत मेम्बरोंके निर्वाचित व्यक्तियोंको 'समाजहितकारी कोष' की गतवर्ष की सहायता बाँटी जायगी; परन्तु नं० १२ के नियमके अनुसार सहायताके बाँटनेका अधिकार कमेटीको सालभर तक रहेगा।

(२३) इन नियमोंके घटाने–बढ़ानेका अधिकार 'महामण्डल' को रहेगा।

(२४) इस कोष की सहायता 'श्रीभारतधर्म महामण्डल, प्रधान कार्यालय, काशी' से ही दी जायगी।

सेक्रेटरी,
श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल,
जगत्गंज, बनारस।

श्रीमहामण्डलका शास्त्रप्रकाशविभाग।

यह विभाग बहुत विस्तृत है। अपूर्व्व संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी पुस्तकें काशी प्रधानकार्य्यालय (जगत्गंज) में मिलती हैं। बंगला सीरीज कलकत्ता दफ्तर (२२बहूबाजारस्ट्रीट में) व उर्दू सिरीज फीरोजपुर [पञ्जाब] दफ्तरमें मिलती है और इसी प्रकार अन्यान्य प्रान्तीय कार्य्यालयोंमें प्रान्तीय भाषाओंके ग्रन्थोंका प्रबन्ध हो रहा है।

आर्य्यमहिलाके नियम

१--श्रीआर्य्यमहिलाहितकारिणी महापरिष
रूपमें आर्य्यमहिला प्रकाशित होती है ।

२--महापरिषद्की सब प्रकारकी सभ्या महोदय
महोदयोंको यह पत्रिका विना मूल्य दीजाती है । अ-
६) वार्षिक अग्रिम देने पर प्राप्त होती है । प्रतिसंख्याक
है । पुस्तकालयों तथा वाचनालयों को ३) वार्षिकमें ही दी

३-किसी लेखको घटाने बढ़ाने वा प्रकाशित करने
सम्पूर्ण अधिकार सम्पादिकाको है । योग्य लेखकों तथाले
को नियत पारितोषिक दिया जाता है और विशेष योग्य
तथा लेखिकाओंको अन्यान्य प्रकार से भी सम्मानित किया जात

४—हिन्दी लिखने में असमर्थ मौलिक लेखक-लेखिकाअ
लेखोंका अनुवाद कार्यालयसे कराकर छापा जाता है ।

५---समालोचनार्थ पुस्तकें, लेख, परिवर्त्तनकी पत्र-पत्रिकाएं,
कार्य्यालय-सम्बन्धी पत्र, छपने योग्य विज्ञापन और रुपया आदि
सब निम्नलिखित पते पर आना चाहिये ।

पण्डित रामगोविन्द त्रिवेदी वेदान्तशास्त्री
मैनेजर आर्य्यमहिला
श्रीमहामण्डलभवन जगत्‌गंज बनारस ।

एजन्टोंकी आवश्यकता ।

श्रीभारतधर्म्म महामण्डल और आर्य्य महिला हितकारिणी महापरिषद्के मेम्बरसंग्रह और पुस्तकविक्रय आदिके लिये भारतवर्षके प्रत्येक नगरमें एजण्टोंकी जरूरत है । एजन्टोंको अच्छा पारितोषिक दिया जायगा । इस विषयके नियम श्रीमहामण्डल प्रधान कार्यालयमें पत्र भेजनेसे मिलेंगे ।

सैक्रेटरी
श्रीभारतधर्म्म महामण्डल
जगत्‌गंज बनारस ।